



योगना

अगस्त 2013

विकास को समर्पित मासिक

₹ 20

समावेशी लोकतंत्र



संपूर्ण पंचायती राज की ओर
मणिशंकर अव्यर

समानता और लोकतात्रिक संस्थान
अरुणा राय और रक्षिता स्वामी

समावेशी लोकतंत्र: एक गांधीवादी दृष्टिकोण
सुदर्शन अयंगार

धर्मनिरपेक्षता और समावेशी समाज
राजीव भार्गव

विशेष लेख

कॉपीराइट : कितना सही कितना गलत
प्राणेश प्रकाश

विशेषांक

विकास यात्रा

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अध्यादेश लागू

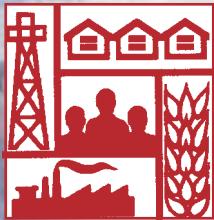
राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अध्यादेश 5 जुलाई, 2013 को लागू हो चुका है। इसको कानूनी जामा पहनाए जाने के बाद देश की कुल 120 करोड़ आबादी के 67 प्रतिशत लोगों को सस्ते दामों पर अनाज मिलना शुरू हो जाएगा। इस योजना के दायरे में 75 प्रतिशत ग्रामीण और 50 प्रतिशत शहरी आबादी को शामिल किया गया है। योजना के तहत प्रतिव्यक्ति को हर माह राशन की दुकानों पर 5 किलो अनाज चावल, गेहूं और मोटा अनाज हर महीने क्रमशः 3 रुपये, 2 रुपये और 1 रुपये की दर से मिल सकेगा।

करीब 2.3 करोड़ अत्यंत गरीब परिवारों को भी अंत्योदय अन्न योजना के तहत जन वितरण प्रणाली के जरिये इसका लाभ मिल सकेगा। अंत्योदय अन्न योजना के तहत प्रत्येक परिवार 35 किलो अनाज हर महीने पाने का हक्कदार होगा।

मुख्य बिंदु

- ◆ 6.2 करोड़ टन अनाज की आपूर्ति 67 प्रतिशत आबादी को करने के लिए सरकार 1.25 लाख करोड़ रुपये हर साल ख़र्च करेगी।
- ◆ 5.6 करोड़ टन से 6.2 करोड़ टन खाद्यानांकों की जरूरत होगी।
- ◆ 5 किलो चावल, गेहूं, मोटा अनाज इस कानून के तहत हर माह प्रतिव्यक्ति को क्रमशः 3,2,1 रुपये की दर से दिया जाएगा।
- ◆ 6-14 साल की उम्र के बच्चों को घरेलू राशन और पकाया हुआ भोजन दिया जाएगा।
- ◆ प्राकृतिक आपदा की स्थिति में अगर राज्यों के पास खाद्यान्न की कमी होगी, केंद्र इसे फंड करेगा।
- ◆ केंद्र सरकार अनाज के रखरखाव और परिवहन में राज्यों की मदद करेगी।

योजना



वर्ष: 58 • अंक: 8 • अगस्त 2013 • श्रावण-भाद्रपद, शक संवत् 1935 • कुल पृष्ठ: 76

प्रधान संपादक
राजेश कुमार झा

वरिष्ठ संपादक
रेमी कुमारी
संपादक
ऋतेश पाठक

संपादकीय कायांलय
538, योजना भवन, संसद मार्ग,
नयी दिल्ली-110 001
दूरभाष : 23717910, 23096738
टेलीफैक्स : 23359578
ई-मेल : yojanahindi@gmail.com
वेबसाइट : www.yojana.gov.in
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
वी.के. मीणा

व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन)
सूर्यकांत शर्मा
दूरभाष : 26100207
फैक्स : 26175516
ई-मेल : pdjucir@gmail.com
आवरण : जी. पी. धोपे

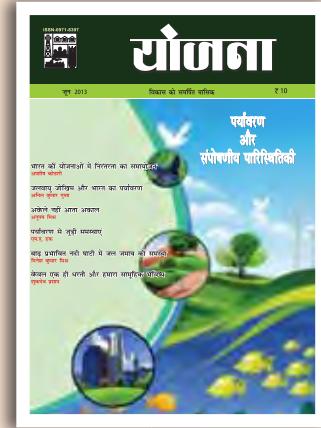
इस अंक में

● संपादकीय	-	5
● संपूर्ण पंचायती राज की ओर	मणिशंकर अव्यर	7
● समानता और लोकतांत्रिक संस्थान	अरुणा राय, रक्षिता स्वामी	13
● वित्तीय वैश्वीकरण के युग में लोकतंत्र	श्रीनिवास राघवेंद्र	17
● धर्मनिरपेक्षता और समावेशी समाज	राजीव भार्गव	21
● कॉर्पोराइट : कितना सही कितना गलत	प्राणेश प्रकाश	25
● लोकतंत्र का जयघोष	अरविंद मोहन	29
● समावेशी लोकतंत्र : एक गांधीवादी परिदृश्य	सुदर्शन अयंगार	33
● विषमता में समावेशी लोकतंत्र कैसे संभव	रहीस सिंह	39
● वंचित वर्ग का बहिष्कार और हाशिये की स्थिति	सुधा पई	43
● युवा भारत का समावेशी लोकतंत्र	अजित कुमार गांधी	46
● क्या आप जानते हैं : प्रिज्म और निताकत क्या है?	-	49
● समावेशी लोकतंत्र : आदर्श और व्यारथ	नामदेव	51
● सामाजिक दायित्वों की कानूनी बाध्यताएं बढ़ाएं बिना समावेशी विकास संभव नहीं	उमेश चतुर्वेदी	54
● लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियाँ एवं संभावनाएं	राजकुमार	56
● अनुकरणीय पहल : महिलाओं का राजनीतिक सशक्तीकरण	मधुश्री दासगुप्ता चटर्जी	59
● भारतीय लोकतंत्र में चुनावों की भूमिका	वैभव सिंह	61
● संचार क्रांति के संवाहक की विदाई	अरविंद कुमार सिंह	63
● भारतीय लोकतंत्र में ग्रामीण महिला सहभागिता	अजय कुमार सिंह	65
● जहां चाह वहां राह : ग्रामीण भारत में जागृति की ज्योति जलाती महिलाएं	सुभाष सेतिया	68
● प्रधानमंत्री की जापान यात्रा	सुरेश अवस्थी	71

योजना हिंदी के अतिरिक्त असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड, मलयालम, मराठी, तमिल, उड़िया, पंजाबी, तेलुगु तथा उर्दू भाषाओं में भी प्रकाशित की जाती है। पत्रिका मंगवाने हेतु, नयी सदस्यता, नवीकरण, पुराने अंकों की प्राप्ति एवं एंजेसी आदि के लिए मनीआर्डर/डिमांड ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर 'अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग' के नाम से बनवा कर निम्न पते पर भेजें : व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन), प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड IV, तल VII, आर.के.पुरम, नयी दिल्ली-66 दूरभाष : 26100207, 26105590 तार : सूचनाप्रकाशन।

सदस्य बनवे अथवा पत्रिका मंगाने के लिए आप हमारे निम्नलिखित विक्री केंद्रों पर भी संपर्क कर सकते हैं : सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नयी दिल्ली-110003 (दूरभाष : 24367260, 5610), हाल सं. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली-110054 (दूरभाष : 23890205) * 701, सी- विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई-400614 (दूरभाष : 27570686) * 8, एसप्लानेट ईस्ट, कोलकाता-700069 (दूरभाष : 22488030) * 'ए' विंग, राजाजी भवन, बंसल नगर, चेन्नई-600090 (दूरभाष : 24917673) * प्रेस रोड नयी गवर्नरमेंट प्रेस के निकट, तिरुवनंतपुरम-695001 (दूरभाष : 2330650) * ब्लॉक सं-4, पहला तल, गृहकल्प, एमजी रोड, नामपल्ली, हैदराबाद-500001 (दूरभाष : 24605383) * फस्ट फ्लोर, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलुरु-560034 (दूरभाष : 25537244) * बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ, पटना-800004 (दूरभाष : 2683407) * हाल सं-1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, सेक्टर-H, अलीगंज, लखनऊ-226024 (दूरभाष : 2225455) * अंबिका कॉम्प्लेक्स, फस्ट फ्लोर, पालडी, अहमदाबाद-380007 (दूरभाष : 26588669) * के.के.बी. रोड, नयी कॉलोनी, मकान संख्या-7, चेनीकुटी, गुवाहाटी-781003 (दूरभाष : 2665090)

चार्द की दरें : वार्षिक : ₹ 100, द्विवार्षिक : ₹ 180, त्रैवार्षिक : ₹ 250; विदेशों में वार्षिक दरें : पड़ोसी देश: ₹ 530; यूरोपीय एवं अन्य देश : ₹ 730। योजना में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। जरूरी नहीं कि ये लेखक भारत सरकार के जिन मंत्रालयों, विभागों अथवा संगठनों से संबद्ध हैं, उनका भी यही दृष्टिकोण हो। पत्रिका में प्रकाशित विज्ञापनों की विषयवस्तु के लिए योजना उत्तरदायी नहीं है।



आपकी राय



पर्यावरण को बचाना होगा

योजना का जून 2013 अंक जो पर्यावरण पर केंद्रित है, उम्दा लगा।

शहरी पर्यावरण की गंभीर चुनौतियों वाला लेख विचार करने योग्य है। साथ ही हमारे देश को आगे बढ़ना है एवं पर्यावरण को बचाना है तो 'टिकाऊ विकास' को शीघ्र ही अपनाना होगा। परंतु गैसों के उत्सर्जन पर विकसित और विकासशील देशों के मध्य गतिरोध अभी भी बना हुआ है। सभी देश अपनी जिम्मेदारियों से बचना चाहते हैं।

एम.ए. हक्क का लेख 'पर्यावरण से जुड़ी समस्याएं' में पानी की बरबादी, वर्षा की स्थिति, बनों की स्थिति, भूमिगत जल स्रोत के महत्व आदि को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

अभिनीत कुमार के लेख 'आर्थिक विकास में पर्यावरण का योगदान' की अनदेखी नहीं की जा सकती है, क्योंकि पर्यावरण को संरक्षित करके ही हम आर्थिक प्रगति कर पाएंगे।

सरोज कुमार वर्मा का लेख 'थोड़ा बदलो तो कोई बात बने' को हमें अपनाना होगा और अपने जीवन में छोटी-छोटी आदतों से हम

पर्यावरण को बचाने में अपना अमूल्य योगदान कर सकते हैं क्योंकि हमारी जीवनशैली ने ही पर्यावरण को सर्वाधिक नुकसान पहुंचाया है और अंत में यही कहूंगा कि—“आओ पृथ्वी की हरियाली और पक्षियों की आवाजें वापिस कर दें। इसके लिए हम सब बस थोड़ा-सा प्रयास करें।”

सचिन चौरसिया 'गंभीर'
गढ़ी, रायसेन, म.प्र.

ठोस नीति की आवश्यकता

योजना का जून अंक पढ़ा जोकि 'पर्यावरण और संपोषणीय पारिस्थितिकी' पर केंद्रित है। अंक में शामिल कई लेखक जैसे लेख 'शहरी पर्यावरण की चुनौतियाँ' : भूमि उपयोग, ठोस कचरा और स्वच्छता', बाढ़ प्रभावित नदी घाटी में जल जमाव की समस्या', 'पारिस्थितिकी तंत्र को मानव से ही खतरा', 'पर्यावरण, परिस्थितिकी और विकास', 'पर्यावरण से जुड़ी समस्याएं' आदि सराहनीय है साथ ही जानकारियों से भरपूर हैं।

हमारे पर्यावरण पारिस्थितिकी तंत्र, जल, जंगल, ज़मीन को प्रदूषण और प्राकृतिक

संसाधनों के अत्यधिक दोहन एवं अंधाधुंध पेड़ों की कटाई ने ख़तरनाक स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है। बढ़ती जनसंख्या के बोझ ने धरती पर विभिन्न प्रकार की समस्याएं पैदा कर दी हैं। कृषि भूमि कम होती जा रही है, जंगल नष्ट हो रहे हैं, भूमिगत जलस्तर लगातार गिरता जा रहा है। औद्योगिकरण के कारण जल, वायु व ध्वनि प्रदूषण लगातार बढ़ता जा रहा है साथ ही भूमि प्रदूषण भी बढ़ रहा है। अंधाधुंध रासायनिक खादों के प्रयोग ने कृषि भूमि को बंजर बनाने का काम किया है।

प्रकृति के साथ छेड़छाड़ का ही नतीजा है कि आज प्राकृतिक आपदाएं ज्यादा आ रही है बाढ़, सूखा, सुनामी, भूस्खलन जैसी भयानक आपदाएं अब ज्यादा होने लगी हैं। हाल ही में उत्तराखण्ड में केदारनाथ क्षेत्र में आई आपदा इसका ताज़ा उदाहरण है। प्रकृति के क़हर ने बहां सब कुछ बरबाद कर दिया। सैकड़ों लोग मारे गए, सैकड़ों मवेशी मारे गए, सैकड़ों की तादाद में लोग बेघर हो गए। सैकड़ों खेत तबाह हो गए। पहाड़ों पर बड़े बांध बनाना ख़तरनाक है। उत्तराखण्ड जैसे संवेदनशील राज्य में तो

स्थिति और भी ख़तरनाक है, परंतु सभी बातों को दरकिनार करके सरकार ने उत्तराखण्ड में कई बांध बनाकर नदियों की जलधाराओं को प्रभावित कर दिया। बांध के जलाशयों में भरा पानी पहाड़ों की दरारों में भरकर पहाड़ों को और कमज़ोर कर रहा है। दूसरी तरफ सैकड़ों हरे पेड़ व कृषि भूमि बांध की भेट चढ़ गई। सड़क बनाने के लिए जो विस्फोट किए जाते हैं, उससे भी पहाड़ कमज़ोर हो रहे हैं। पहाड़ों पर पेड़ों का कटान भी भारी मात्रा में हुआ है जिसके चलते बरसात होने पर कमज़ोर हो चुकी चट्टान व मिट्टी तेज़ी से बहने लगती हैं और प्राकृतिक आपदा का रूप ले लेती है। पहाड़ों पर लोग बेतरतीबी से निर्माण कार्य करने लगे हैं। नदियों के आस-पास मकान, दुकान और अन्य निर्माण काफी मात्रा में होने लगे हैं। पुराने बरसाती नालों पर भी लोग निर्माण करने लगे हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि अत्यधिक बरिश होने पर नदियां पूरे उफान पर आती हैं और पुराने बरसाती नाले भी पूरे बेंग से जल प्रवाहित करते हैं इससे उनके पास बने मकान, दुकान, होटल सभी तेज़ बहाव से हुए कटाव के कारण ध्वस्त हो जाते हैं। जब-जब इंसान कुदरत से छेड़छाड़ करता है, उसका परिणाम भयानक ही होता है। सरकार को हिमालयी राज्यों के लिए एक ठोस नीति बनानी चाहिए। जिसके तहत हिमालय क्षेत्र में होने वाले किसी भी प्रकार के निर्माण में पर्यावरण की अनदेखी न की जाए तथा पर्यावरण की सुरक्षा को अहमियत देते हुए ही किसी प्रकार का निर्माण किया जाए। हमें हमेशा यह याद रखना चाहिए कि पर्यावरण से ही हम हैं, हमसे पर्यावरण नहीं है।

महेंद्र प्रताप सिंह

मेहरागांव, अल्मोड़ा

विनाश के लिए मानव ही जिम्मेदार

योजना का जून अंक 'पर्यावरण एवं संपोषणीय परिस्थितिकी' पढ़ा, बेहद ज्ञानवर्धक लगा। धारणीय विकास के आधारभूत घटक के रूप में संपोषणीय परिस्थितिकी के बारे में अनेक विद्वान लेखकों के सारणीकृत विचार सदैव उपयोगी रहेंगे।

अंक में आशीष कोठारी का 'भारत की योजनाओं में निरंतरता का समायोजना', शुकदेव प्रसाद का 'केवल एक ही धरती और हमारा सामूहिक भविष्य', दिनेश कुमार मिश्र का 'बाढ़ प्रभावित नदी घाटी में जल जमाव की समस्या' तथा कृष्णकांत का 'परिस्थितिकी तंत्र को मानव से ही ही ख़तरा' जैसे लेख बेहद महत्वपूर्ण हैं, तथा एक गंभीर प्रश्न उठाते हैं कि हमारी पृथक्की की हो रही दुर्दशा का जिम्मेदार आखिर कौन है? हाल ही में उत्तराखण्ड में आई भीषण त्रासदी का उल्लेख इस संदर्भ में प्रासांगिक होगा। कहने को तो यह आपदा प्राकृतिक है, जिस पर इंसान का कोई बस नहीं। परंतु वास्तविकता यही है कि इस क्षेत्र में आई आपदा का एक बड़ा कारण हम और हमारी सरकारें भी हैं। सभी जानते हैं कि उत्तराखण्ड एक हिमालयी क्षेत्र है जो पर्यावरण की दृष्टि से बेहद संवेदनशील है। यहां की प्राकृतिक जलवायु और सुरक्ष्य वातावरण प्रदूषण का आदि नहीं है। देश की सभी सदानीरा नदियों का उद्गम यहीं से होता है। जिससे समस्त देश की प्यास मिटती है। बावजूद इसके इन नदियों में अवैध खनन कर नदियों को चीरा जा रहा है। इन नदियों पर बिजली उत्पादन के नाम पर बड़े-बड़े बांध बनाकर नदियों के अविरल प्रवाह को थामा जा रहा है जिससे नदियों में गाद की मात्रा बढ़ रही है तथा नदियों में जल संभरण की क्षमता घट रही है। नदियों के तटों पर अतिक्रमण कर उनमें होटल-रेस्टोरेंट बनाए जा रहे हैं, तथा नदियों को प्रदूषित किया जा रहा है।

हम सभी जानते हैं कि उत्तराखण्ड को 'देवभूमि' कहा जाता है, जहां देश-विदेश से श्रद्धालु तीर्थीटन हेतु पुण्य प्राप्त करने आते हैं, परंतु आज अधिकांश यात्रियों ने इसे तीर्थयात्रा के स्थान पर पिकनिक स्पॉट समझ लिया है। यात्रा के दौरान कई युवा अपने साथ नशीली वस्तुएं भी रखते हुए पाए गए हैं। केदारनाथ, बद्रीनाथ, गौरीकुण्ड, गुप्तकाशी जैसे स्थानों पर आई यह भीषण आपदा का कारण इस संवेदनशील प्राकृतिक क्षेत्र में बढ़ रहा प्रदूषण ही है।

साथ ही विकास के नाम पर रहे इस असंतुलित विकास ने इसकी (उत्तराखण्ड) मुश्किलें और बढ़ा दी हैं। आपदा तथा आपदा प्रबंधन के नाम पर सरकार बजट में अलग से व्यवस्था करती है, परंतु इस आपदा में आपदा प्रबंधन पूरी तरह असफल रहा। सच ही है कि आज परिस्थितिकी तंत्र के लिए मानव ही सबसे बड़ा ख़तरा बना गया है, जो इतना निराकार हो गया कि अपने ही अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। यह प्रक्रिया जल्द ही नहीं थमीं तो मानव जाति स्वयं ही अपने विनाश की जिम्मेदार होगी।

परीक्षित उनियाल

ऋषिकेश, उत्तराखण्ड

ई-मेल : iasuniyal0290@yahoo.in

बाढ़ की समस्या

योजना का जून 2013 अंक पढ़ा जिससे पर्यावरण और संपोषणीय परिस्थितिकी के बारे में नयी-नयी जानकारियां मिली। 'बाढ़ प्रभावित नदी घाटी में जल जमाव की समस्या' आलेख ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया। भारत में जलजमाव, भू-क्षरण एक बड़ी समस्या बनती जा रही है। वर्ष 1971-72 में बंगाल के तत्कालीन लेफिनेंट गवर्नर ने चंपारण में एक नहर का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और कहा कि इससे बर्दावान जिले में दामोदर से छेड़छाड़ होगी। दामोदर नदी बंगाल का शोक और बाढ़ लाने वाली नदी थी। दामोदर वेली कॉरपोरेशन की स्थापना के बाद बाढ़ की समस्या पर काबू पाया गया। ताप विद्युत केंद्र दामोदर नदी के बाढ़ के बाद ही बना। सभी क्षेत्र विकसित किए गए और राष्ट्रीय धरोहर बना दामोदर नदी के किनारे का क्षेत्र। पूर्व में भी आलोचना होती रही है कि बांध बन जाने से मलेरिया फैला था। दामोदर नदी का पानी बहुत ही दूषित और गंदा होता जा रहा है। मिथिला भी बाढ़ की समस्या से वर्षों से परेशान रहा है और बहुत दिनों से मांग उठाया जा रहा है कि कोसी नदी पर एक विशाल बांध और नहर का निर्माण किया जाए।

अशोक कुमार ठाकुर

मालीटोल, अदलपुर, दरभंगा, बिहार

भारत का एकमात्र सेवार्थ संस्थान
जो “न्यूनतम शुल्क पर अधिकतम गुणवत्ता” हेतु प्रतिबद्ध है

KUMAR'S IAS

KUMAR'S IAS में
Fee अन्य संस्थानों
की तुलना में कम क्यों?



KUMAR'S IAS की स्थापना **Kumar Sir** द्वारा 2006 में अपनी **Mother** की प्रेरणा से की गई थी, और उन्हीं के कहने पर **Kumar Sir** ने संस्थान को केवल आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग को ध्यान में रखकर संचालित किया लेकिन कछ समय पूर्व उनकी **Death** हो जाने के कारण आज भी **Kumar Sir** उनके सपने को पूरा करने के लिए संस्थान को सेवार्थ भावना पर ही संचालित कर रहे हैं। इसलिए कोई भी अभ्यर्थी **KUMAR'S IAS** में आकर कम **Fee** के बारे में कोई प्रश्न न करें और ना ही अन्य संस्थान **KUMAR'S IAS** की सेवार्थ भावना पर कोई टिप्पणी करें।

उपलब्ध विषय व शुल्क

- सामान्य अध्ययन (मुख्य परीक्षा) शुल्क- ₹ 15,500
- सामान्य अध्ययन (प्रारंभिक परीक्षा) शुल्क- ₹ 8,500
- सामान्य अध्ययन (प्रारंभिक सह मुख्य परीक्षा) शुल्क- ₹ 20,500
- लोक प्रशासन (मुख्य परीक्षा) शुल्क- ₹ 15,500

नए सत्र हेतु नामांकन प्रारंभ
पहले आओ पहले पाओ के आधार पर

एक बार पुनः कम Fee में उच्चतम गुणवत्ता का उत्कृष्ट परिणाम

	Int. Only		Result CSE-2012	
Rank- 97	Jafar Malik Roll No.: 038816	Rank- 722	Sakthi Ganeshan S Roll No.: 020243	Rank- 131
Prabhat Kumar Rank- 461	Ashok Kr. Suthar Rank- 505	Rituraj Raghavashali Rank- 555	Md. Mustaque Rank- 747	Dhanasek Chourasiya Rank- 747
Krishan Kumar Rank- 788	Monika Pawar Rank- 798	Cheshta Yadav Rank- 812	Sanjiv Kumar Rank- 863	N.A.
Subhash Kumar Rank- 865	Narendra Kumar Rank- 865			
2012	2012	2012	2012	2012
सिविल सेवा मुख्य परीक्षा-2012 में सफल अन्य अभ्यर्थी				

KUMAR'S IAS

A-31/34, Basement Arya Gas Agency, Behind Post Office,
Jaina Extension Complex, Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-09

Email : kumariasacademy@gmail.com

Website : www.kumarsias.com

011-47567779

24x7 Helpline : 0-8882388888



{ 0-888-222-4455
0-888-222-4466
0-888-222-4477
0-888-222-4488

रांपाद्धकीय

कतार में आखिरी व्यक्ति का हक़

यह 1904 की बात है गांधीजी एक रेलगाड़ी से जोहांसर्बग से डरबन जा रहे थे। उनके मित्र हेनरी पोलाक ने जॉन रस्किन द्वारा लिखित पुस्तक अटू दिस लास्ट उन्हें दी थी, जिसे वे इस लंबी यात्रा के दौरान पढ़ रहे थे। इस छोटी-सी पुस्तक में 1860 में लिखे चार निबंध शामिल थे। पुस्तक न्यू टेस्टामेंट (बाइबल) की एक नीति कथा से प्रभावित थी, जिसको रस्किन ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन के औद्योगिक समाज की आलोचना के तौर पर पेश किया था। इस पुस्तक ने गांधी पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने उसका अनुवाद कर उसकी व्याख्या सर्वोदय के रूप में की। 'सर्वाधिक लोगों की सर्वाधिक भलाई' के उपयोगितावादी सिद्धांत को नकारते हुए गांधी ने इस बात पर बल दिया कि समाज की वास्तविक खुशी तभी हासिल की जा सकती है जब कतार में आखिरी व्यक्ति का भी कल्याण हो सके। व्यक्ति का सही अर्थों में कल्याण तभी संभव है जब समाज का भी कल्याण हो। समावेशन का यह विचार ही गांधीवादी स्वराज की अवधारणा का नैतिक आधार और केंद्र बिंदु है।

निश्चय ही नियति के दिए वचन को पूरा करने के लिए भारत को लोकतंत्र के साथ समावेशन की ऊर्जा को अनुप्राणित करने की आवश्यकता थी। निस्सदेह, जवाहरलाल नेहरू और बाबा साहब अंबेडकर जैसे लोकतंत्र के पुरोधाओं द्वारा ईट-दर-ईट खड़ी की गई। हमारे लोकतंत्र की इमारत इसी समावेशन की नींव पर टिकी थी। परंतु यह कोई सरल प्रक्रिया नहीं रही थी। संभवतः भारत अपनी लोकतांत्रिक संस्थाओं का निर्माण इसलिए कर सका कि हमारे देशवासियों ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध जमकर लोहा लिया था। परंतु इसे समावेशन के रक्त से अनुप्राणित करने के लिए कहीं अधिक प्रयास, कहीं अधिक संकल्प की आवश्यकता थी ताकि वैश्वीकरण के दौर में दुनिया की जटिलताओं से पार पाया जा सके।

लोकतंत्र के आगे समावेशन को जोड़ना निरर्थक लग सकता है। आखिरकार लोकतंत्र में, शासन की प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता को मानकर ही चला जाता है। परंतु लोकतंत्र की व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। यह सत्य है कि वयस्क मताधिकार वाला संसदीय लोकतंत्र वर्तमान में लोकतंत्र का सर्वाधिक स्वीकार्य रूप है, परंतु प्रायः यह सहभागिता से अधिक प्रतिनिधिक बनकर रह जाती है। प्रतिनिधिक लोकतंत्र की प्रायः इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि उसमें लोकतंत्र का ढांचा तो बना रहता है परंतु वास्तविकता का अभाव रहता है और जो केवल लोगों तथा राज्य (सरकार) के मध्य बिचौलियों के स्तरों को कम करने से ही आ सकती है। एक लोकतांत्रिक प्रणाली में भी, राज्य को उतने ही अंश में वैधता हासिल होती है जितना कि लोग अपनी नियति एवं अपनी संस्थाओं को आकार देने और अपनी आकांक्षाओं को मुखरित, उन्हें हासिल करने में सक्षम और समर्थ होते हैं। समावेशन ही प्रतिनिधिक लोकतंत्र और सहभागी लोकतंत्र के बीच एक सेतु का काम करता है।

समावेशन की अवधारणा बहुत सारे स्तरों पर काम करती है जो बड़ी बारीकी से एक-दूसरे से गुंथे होते हैं। यदि समाज के कई वर्ग सामाजिक भेदभाव के शिकार होते हैं तो आर्थिक समावेशन नहीं हो सकता। इसी प्रकार, समावेशी लोकतंत्र यह मानकर चलता है कि विभिन्न सामाजिक और आर्थिक समूह अपने मत एवं रीति-रिवाजों का निर्भय होकर पालन करने को स्वतंत्र हैं। इस सबके लिए लोकतंत्र की ऐसी संरचना की आवश्यकता होती है जिसमें स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के मूल्यों को संस्थागत रूप मिला हो। यह स्पष्ट है कि समावेशन, राज्य और समाज की वर्चित वर्ग के सशक्तीकरण और उनके संबंधों को गैर-श्रेणीबद्ध और समान रूप से पुनर्गठित करने के मकसद से शक्ति संरचना में मौलिक परिवर्तन पर आधारित है।

समावेशन को हमारी राजनीतिक प्रणाली का मार्गदर्शन करने वाले मूल्यों का अभिन्न अंग बनाने के लिए, भारत ने सामाजिक हक्कदारी के लिए अधिकार आधारित दृष्टिकोण अपनाया है। सूचना का अधिकार, भोजन का अधिकार और मनरेगा जैसे अनेक विधायी उपायों का सामाजिक एवं आर्थिक समावेशन के संवर्धन के साथ-साथ लोगों के सशक्तीकरण पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) के हाल के आंकड़ों से पता चलता है कि देशभर में ग्रामीणी की मात्रा 2004-05 की तुलना में 15 प्रतिशत कम हुई है। यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। परंतु भारत में अब भी 25 करोड़ लोग ग्रामीणी में रह रहे हैं। राष्ट्र के जीवन की गुणवत्ता को परिलक्षित करने वाले मानव विकास सूचकांक के लिहाज़ से भी हम बहुत पिछड़े हैं। जातीय अत्याचार, जनजातीय और अनुसूचित जाति के लोगों का शोषण और सामाजिक बहिष्कार अब भी समाज में विद्यमान हैं।

हम लंबी दूरी तय कर चुके हैं। हमें अभी और भी लंबे जाना है। समावेशन ही भविष्य है। लोगों का सशक्तीकरण ही भविष्य है। संभवतः नियति को दिए वचन को वास्तव में और पर्याप्त रूप से फलीभूत करने का समय आ गया है। आइए, धरती पर कान लगाएं और सुनें कि क्षितिज बड़ी कोमलता से फुसफुसा कर क्या कह रहा है—“दीन-दुखियों को ही पृथ्वी उत्तराधिकार में मिलेगी।” □



CL Civil Services Notice No. 34/2013-14

Dated 07.07.2013

मिथकः सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा में CSAT एवं सामाज्य अध्ययन का महत्व बराबर (50-50) है।

वास्तविकता: प्रारम्भिक परीक्षा में CSAT का महत्व कम से कम 60 से 65 प्रतिशत है।

सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा में सफल होन की संभावना में वृद्धि के लिए आपको CSAT में सफल होना अनिवार्य है।

कक्षा कार्यक्रम में 200 से अधिक घंटों की तैयारी समिलित है।

124
से अधिक
घंटों का कक्षा
कार्यक्रम

60
से अधिक
घंटों की प्रारंभिक
परीक्षा टेस्ट सीरीज
और विश्लेषण

22
से अधिक
घंटों के मॉड्यूल
टेस्ट और पुनरीक्षण
अभ्यास

CL के 155 छात्र प्रारम्भिक परीक्षा 2012 में चयनित हुए

CSAT '14 बैच के लिए अपने नजदीकी CL (सिविल सेवा) सेंटर से संपर्क करें।



Civil Services
Test Prep

www.careerlauncher.com/civils

CL Civils Centers: Mukherjee Nagar: 204 & 216, 2nd Floor, Virat Bhawan, Opp Post Office,
Mukherjee Nagar Ph: 41415241/6 | Old Raiendra Nagar: 18/1, 1st Floor, Above Muthoot Finance
Ph: 42375128/9 | Ber Sarai: 61B, opp to old JNU campus and Behind Jawahar
Book Shop, Ph: 26566616/17 | Allahabad: 09956130010



YH-102/2013



संपूर्ण पंचायती राज की ओर

● मणिशंकर अव्वर

‘सभनों के स्वतंत्र भारत’ के बारे में एक सवाल का जवाब देते हुए गांधीजी अपने प्रकाशन यंग इंडिया में 10 सितंबर, 1930 को लिखा था- “मैं ऐसे स्वतंत्र भारत के लिए काम करूंगा, जिसमें ग़रीब से ग़रीब भी महसूस करे कि यह उसका देश है और राष्ट्र निर्माण में उसकी भी प्रभावी भूमिका है।”

पंचायत निकायों पर विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट कि वे ज्यादा प्रभावी ढंग से सार्वजनिक सेवा करने में कैसे सक्षम हों? यह रिपोर्ट लेखक की अध्यक्षता में तैयार की गई और इसे पंचायत राज मंत्री को प्रस्तुत किया गया। समिति के अन्य सदस्य थें प्रो. थॉमस इसाक, श्री पीलीपोस थॉमस, श्रीमती निर्मला बुच, श्री एम. एन. राय, श्री जो. मदियाथ और श्री एम. बी. राव, जो सदस्य सचिव भी थे। श्री टी. आर. रघुनंदन ने प्रधान परामर्शदाता और श्री अमित गोयल ने सलाहकार सचिव की भूमिका निभाई। इस रिपोर्ट की प्रति लेखकों को अनुरोध भेजकर निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

इसी दूरदृष्टि वाली रिपोर्ट के मुख्य पृष्ठ पर यह उद्धरण छापा गया है और यही इस रिपोर्ट का मुख्य उद्देश्य है। ग़रीब से ग़रीब

भारतीय की बात छोड़िए, कोई ऐसा तरीका नहीं है कि एक आम आदमी उस संसद को अपनी समझ सके, जिसमें 15-20 लाख अन्य की तरह उसका भी प्रतिनिधि मौजूद है और वह उन महत्वपूर्ण फैसलों में उसकी आवाज शामिल करा रहा है जो राज्यों की दूरदराज स्थित राजधानियों अथवा दिल्ली में लिए जाते हैं। कलक्टर ऑफिस में तो उसके लिए घुसना संभव है ही नहीं।

यहां तक कि आजादी के 65 वर्ष बाद हर भारतीय नागरिक अपने आप को प्रशासनिक प्रक्रिया से अगल-थलग महसूस कर रहा है और अलग-थलग होने का यह भाव आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों में और समाज के निचले तबकों में ज्यादा है। वहां मौजूद आदमी अपने आप को भौगोलिक रूप से उन भवनों से दूर पाता है जहां उसके जीवन को प्रभावित करने वाले फैसले लिए जाते हैं। हालांकि भारत में लोकतंत्र को लागू हुए साढ़े छह दशक बीत चुके हैं, लेकिन अभी तक अधिकांश लोग अपनी कारगर आवाज उस देश के भविष्य के बारे में नहीं उठा पाते, जहां उनके माता-पिता और पितामह औपनिवेशिक शासन में रहते आएं थे।

इस दिशा में आशा की एक किरण गांधी

जी के सिद्धांतों में है। गांधीजी चाहते थे कि हमारे लोकतांत्रिक निकाय पंचायत राज की नींव पर बनाए जाएं। यह बात 1946 में प्रकाशित श्री नारायण अग्रवाल की पुस्तक ए गांधी कांस्टीट्यूशन फार इंडियंडेंट इंडिया से जाहिर होती है। गांधीजी ने इसका खुद समर्थन किया था यह बात उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक की प्रस्तावना से जाहिर है।

अनेक मुश्किलों के बाद संसद ने आखिरकार गांधीजी के सिद्धांतों की प्रमुख बातें एक योजना में संकलित कीं और लगभग निर्विरोध रूप से 73वां और 74 वां संविधान संशोधन दिसंबर 1992 में पास किया। बाद में इसमें पंचायत राज (अनुसूचित क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम 1996 जोड़ा गया, जैसा कि भाग 9 (पंचायत) में ज़रूरी है। संविधान में पंचायत राज निकायों को ऐसे संस्थान बताया गया है, जो स्वायत्तशासी है और उनमें स्वयं सुशासन की ज़रूरत नहीं पड़ती। दोनों में अंतर स्पष्ट है कि यह पंचायत राज निकायों के सशक्तीकरण के लिए था।

इसके लगभग चौथाई सदी बाद हमें कुछ पंचायत राज मिला लेकिन यह संपूर्ण नहीं था। हमारी रिपोर्ट में इस कमी को दूर करने की कोशिश की गई। अगर और विशिष्ट बात करें

तो इसका उद्देश्य पंचायत राज निकायों द्वारा देश के सबसे पिछड़े वर्ग को सार्वजनिक माल और सेवाएं अधिक कुशलता के साथ पहुंचाना सुनिश्चित करना था। इसके लिए नौकरशाही का तरीका ज़रूरी नहीं था, लेकिन यह सफल नहीं हुआ। कैसे नाटकीय तरीके से सेवाओं की सुपुर्दगी की व्यवस्था विफल हो गई, यह दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। पहला तो यह कि सामाजिक क्षेत्र पर केंद्रीय बजट व्यय अब पहले के मुकाबले 25 गुना बढ़ गया है। गरीबी शमन के कार्यक्रम भी इसमें शामिल हैं। यह तब है जब आर्थिक सुधार शुरू हो चुके हैं और 1992-93 के ₹ 7,500 करोड़ से बढ़कर मौजूदा बजट में यह राशि दो लाख करोड़ हो गई है। संयुक्त राष्ट्र मानव विकास संकेतकों के अनुसार हमारी रैंकिंग 135 के आसपास है और आर्थिक सुधार शुरू होने के समय यह वहीं थी। हमारी स्थिति ऐलिस इन वंडरलैंड की तरह है, हम जितना ही भागते हैं उतना ही फिर वहीं पहुंच जाते हैं, जहां से शुरुआत की थी। इस रिपोर्ट में इसी बात को 'ट्रेड मिल ग्रोथ' कहा गया है।

दूसरी बात, हमारी 12वीं पंचवर्षीय योजना से संबंधित है। वह यह कि हमारी अर्थव्यवस्था अब इससे पहले वाली योजना की तुलना में आठ प्रतिशत विकसित हो चुकी है लेकिन गरीबी शमन की दर पिछले 11 वर्षों से 0.8 प्रतिशत से नीचे बनी हुई है और अब यह औसत रूप से 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के आसपास है। इस प्रकार से असमानता बढ़ रही है और भविष्य में हम सरकार से प्राप्त अतिरिक्त राजस्व का अधिकतम उपयोग करने में विफल हो जाएंगे। ये राजस्व केंद्र द्वारा प्रायोजित 150 केंद्रीय सरकार की योजनाओं से पैदा होता है। इसके लिए काफी ऊंचा बजट आवंटन किया जाता है। अब से 25 वर्ष पहले के मुकाबले अब यह काफी ज्यादा होता है। यह संसाधनों की भयानक बर्बादी है और इसके कारण संसाधनों का रिसाव होता है, जिसका असर हमारी वृद्धिदर पर पड़ता है और वह गिरती जाती है, भले ही राजस्व को ग्रोत्साहन मिल रहा हो। 2007 से हमारी अर्थव्यवस्था में 25 लाख करोड़ रुपये दिए जा चुके हैं।

विशेषज्ञ समिति को जो काम सौंपा गया था उसके अंतर्गत हमारी राष्ट्रीय आय कम

हो रही है और समता मूलक आधार पर इसे वितरित नहीं किया जा रहा है। सार्वजनिक सेवाओं को अधिक कुशल ढंग से चलाना मुश्किल हो रहा है। खासतौर से 29 सेवाएं पंचायत राज में उदाहरण स्वरूप सूचीबद्ध की गई हैं और यही इसका मूल विषय है।

पंचायत राज निकाय इन कार्यों, वित्तीय मामलों और कर्मचारियों को कारगर ढंग से संभाल सकते हैं। अक्सर इन्हें विकल्प के रूप में बताया जाता है, लेकिन अगर राज्यों के नौकरशाह इसी तरह सुपुर्दगी एजेंसी का काम करते रहें तो वे खुद डिलीवरी एजेंट बन जाएंगे। इससे पूरा सुपुर्दगी तंत्र उत्तरदायित्व रहित बन जाता है और जिन लाभार्थियों को उनसे लाभ पहुंचाना है वे लाभार्थित नहीं हो पाते। सुपुर्दगी एजेंसियां स्थानीय समुदाय के प्रति जवाबदेह नहीं होती और इस प्रकार से पारदर्शिता खत्म होती है। बड़ी-बड़ी धनगणि खर्च की जाती हैं और सेवाओं के सुपुर्दगी के बड़े तंत्र बनाए

ग्रामीणों के बीच संसाधनों का बंटवारा
बाबाबर आधार पर न हुआ तो न वृद्धिदर आगे बढ़ेगी और न ही न्याय हो पाएगा, क्योंकि ग्रामीब और निर्धन वर्ग हमारी आबादी के 70 प्रतिशत के आसपास हैं, इसे डॉ. अर्जुन सेनगुप्ता 2007 की अपनी रिपोर्ट में तय कर चुके हैं।

जाते हैं, लेकिन लाभार्थियों का फायदे नहीं मिल पाते और वे उन फ़ैसलों के मूकदर्शक बन जाते हैं जो उनके और उनके परिवारों के लाभ के लिए किए जाते हैं। इस तरह से हमारे देश में ग्रामीब महसूस कर सकें कि यह उसका देश है और फ़ैसलों में वह कारगर ढंग से शामिल हो सकें-इस बात की विफलता का प्रमुख कारण हमारी प्रशासन पद्धति है। भले ही पंचायत राज को बढ़ावा देने के लिए 73वें और 74वें संविधान संशोधन किए जा चुके हैं लेकिन केंद्र प्रायोजित योजनाओं में पंचायत राज की कोई भूमिका नहीं है। इस सामान्य बात के दो अपवाद भी हैं। पहला है मनरेगा, जिसे गांव पंचायत को सौंपा गया है (भले ही उसे सरपंच संभालता हो) और दूसरा है पिछड़ा क्षेत्र अनुदान कोष, जिसके अंतर्गत सबसे निचले स्तर पर प्लानिंग की जाती है। जैसा कि प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा है अगर

जिला स्तर पर नियोजन संविधान के प्रावधानों के अनुरूप हो सकते हैं और वे अनिवार्य हैं तो यही बात विकसित जिलों और सभी पिछड़े जिलों में केंद्रीय प्रायोजित योजनाओं के बारे में क्यों नहीं लागू हो सकती?

आदिवासी जिलों में जहां नक्सलवादी सक्रिय हैं, यह बात खतरनाक स्तर तक पहुंच गई है। देवू बंदोपाध्याय समिति ने 2008 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट (अतिवाद प्रभावित क्षेत्रों में विकास की चुनौतियां) पेश की है। इस रिपोर्ट को पहले कमीशन किया गया, फिर योजना आयोग ने उसकी अनदेखी कर दी। इसकी पांचवीं अनुसूची में ऐसे क्षेत्रों के विकास कार्यक्रमों में प्रशासनिक स्थिति उजागर की गई थी। इन जिलों की समेकित कार्ययोजना अब बीआरजीएफ में मिलाए जाने पर विचार किया जा रहा है और इस तरह से स्थानीय समुदाय को भागीदारी विकास से अलग किया जा रहा है। बिना भागीदारी नियोजन के किसी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से समावेशी विकास संभव नहीं होता। अगर नौकरशाही पर अधिक भरोसा किया जाता है तो इसका परिणाम होता है—असमावेशी विकास।

हमारी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया गया है कि विभिन्न विफ़लताओं के बावजूद कारगर विकास में अपर्याप्त संभावनाएं हैं। इसीलिए इस रिपोर्ट की मुख्य बात है केंद्र प्रायोजित आठ योजनाओं की गतिविधि रूपरेखाएं प्रस्तुत करना और यह दिखाने के लिए कि पीआरआई की किस प्रकार से पर्याप्त भूमिका सुनिश्चित की जा सकती है। इसके लिए गतिविधि, वित्तीय संसाधन और कर्मचारी विकसित करने होंगे। यह काम स्पष्ट और वैज्ञानिक तरीके से करना होगा, जिसके सिद्धांत सशक्त सार्वजनिक प्रशासन में दिखाई दें।

(1) राष्ट्रीय आजीविका मिशन (2) राष्ट्रीय पेयजल मिशन और निर्मल भारत योजना का सफाई घटक (3) त्वरित सिंचाई लाभ कार्यक्रम और कमान एरिया विकास कार्यक्रम (4) सर्वशिक्षा अभियान (5) राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (6) समेकित बाल विकास सेवाएं (7) आदिवासी उपयोजनाओं के लिए अतिरिक्त केंद्रीय सहायता (8) राजीव गांधी विद्युतीकरण योजना। विशेषज्ञ समिति इन आदर्श गतिविधि रूप रेखाओं में बढ़चढ़कर

योगदान के लिए चार विद्वानों- इनू के रैनक अहमद और विजय श्रीवास्तव, सीएसडीएस के विन्सी डेविस और आशीष कुमार को विशेष रूप से साधुवाद देना चाहती हैं। इन्होंने समिति के प्रधान परामर्शदाता टी. आर. रघुनंदन के मार्गदर्शन में खास योगदान किया।

सहायता के सिद्धांत में कहा गया है कि जो कुछ निचले स्तर पर किया जा सकता है वह उसी स्तर पर किया जाना चाहिए, उससे ऊंचे स्तर पर नहीं। इसी लिए सहायता के सिद्धांत में कहा गया है कि जो कुछ निचले स्तर पर नहीं किया जा सकता उसे ऊंचे स्तर पर किया जाए और निचले स्तर पर नहीं।

किसी गतिविधि के उपयुक्त स्तर का निर्णय करते समय सार्वजनिक सुशासन के सिद्धांतों का सहारा लिया जाना चाहिए ताकि गतिविधियां स्पष्ट हो सकें और गतिविधि के उपयुक्त स्तर का फ़ैसला किया जा सकें।

गतिविधि रूपरेखाएं इस रिपोर्ट के खंड चार में शामिल की गईं। इस कवायद में वित्त और कर्मचारियों संबंधी विकास कार्य साथ-साथ शामिल किए गए और इस बात का ध्यान रखा गया कि केंद्र प्रायोजित योजनाओं के मार्गदर्शक नियमों और हर आदर्श गतिविधि रूपरेखा उसमें शामिल की जाए। इस तरह से उदाहरण के लिए समिति ने सर्वशिक्षा अभियान के मार्गदर्शक नियमों की परीक्षा की तो जाहिर हुआ कि 'ए फोर एप्पल' और 'बी फोर बॉल' पढ़ाने से पहले 325 प्रकार की गतिविधियां पूरी की जा चुकी थीं। इनमें से 200 गतिविधियां केंद्र या राज्य स्तर पर की गईं और लगभग 100 जिला स्तर पर संपन्न की गईं। जिलास्तर अथवा उप जिलास्तर अथवा स्कूल स्तर पर की गईं। समिति की आदर्श गतिविधि रूपरेखा में इस बात का विवरण दिया गया है कि सरकार के 6 स्तर शामिल हैं और इनमें कब और कहां इस स्तर की गतिविधि की जाएं। ये स्तर हैं- केंद्र, राज्य, जिला पंचायत, इंटरमीडिएट पंचायत, गांव पंचायत और विद्यालय स्तर। आदर्श गतिविधि रूपरेखा में वे विवरण भी दिए गए हैं कि किस गतिविधि पर कितने वित्त संसाधन की ज़रूरत पड़ेगी, कितने कर्मचारी लगेंगे अथवा कितने नौकरशाह अथवा विशेषज्ञों की ज़रूरत पड़ेगी। रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि केंद्र प्रायोजित योजनाओं की गतिविधि रूपरेखाओं

के लिए स्पष्ट प्रावधान किए जाएं ताकि राज्यों के लिए उन्हें आदर्श बनाया जा सके और राज्य अगर चाहें तो उनकी गतिविधियों की रूपरेखा में स्थानीय परिस्थितियों के परिवर्धन अथवा परिवर्तन कर सकें। इस प्रकार से गतिविधि रूपरेखा राज्य विनिर्दिष्ट गतिविधि रूपरेखा बन जाएगी और इसमें संशोधन करना राज्य सरकारों का काम होगा। इसके लिए वे केंद्र से सलाह-मशविरा कर सकते हैं, लेकिन सभी केंद्र प्रायोजित योजनाओं के लिए राज्य विनिर्दिष्ट गतिविधि रूपरेखा होगी।

उद्देश्य मापदंडों के आधार पर तौर-तरीकों का वैज्ञानिक विकास जैसा सुझाया गया है, समाप्त हो जाएगा बशर्ते कि राज्य और पीआरआई के बीच हितों में विरोध पैदा होता है। सर्वश्रेष्ठ परिणाम प्राप्त करने के संयुक्त प्रयास में सभी छह स्तरों पर सहयोग किया जाएगा। कोई बाहर नहीं छूटने पाएगा। सभी को शामिल किया जाएगा और क्रमशः गांधीजी

सर्वशिक्षा अभियान के मार्गदर्शक नियमों की परीक्षा की तो ज़ाहिर हुआ कि 'ए फोर एप्पल' और 'बी फोर बॉल' पढ़ाने से पहले 325 प्रकार की गतिविधियां पूरी की जा चुकी थीं।

का सपना साकार किया जाएगा।

जो तौर-तरीके सुझाए गए हैं उनसे 12वीं योजना के दस्तावेज में बताए गए आम आदमी की ये अवधारणाएं झूठी जान पड़ती हैं कि पंचायत राज राज्य सरकार की जिम्मेदारी है और इस मामले में केंद्र सरकार कुछ नहीं कर सकती। वास्तविकता यह है कि अगर राजनीतिक इच्छाशक्ति की ज़रूरत न होती तो सबसे लंबा और विस्तृत सर्विधान संशोधन पास ही न हो पाता और संसद के सदन इस मामले में एक तरह से निर्विरोध इस विधेयक को पास न करते। इस मामले में अगर राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी होती तो आधा दर्जन राज्यों की विधायिकाएं इस विधेयक पर अमल के लिए राष्ट्रपति की सहमति चार महीने के अंदर प्राप्त न कर पातीं। वस्तुतः यही हुआ था। अगर राजनीतिक इच्छाशक्ति न होती तो बड़ी संख्या में लोग सर्विधान की उन मूल धाराओं को न मानते जो पंचायत राज से संबंधित थीं। उदाहरण

के लिए उन्होंने राज्य स्तर पंचायत राज्य के अनुरूप चुनाव कराने, आरक्षण, स्वतंत्र राज्य स्तर के निर्वाचन आयोगों की स्थापना, राज्य स्तर के वित्त आयोगों की स्थापना, स्थानीय तथा सीएजी ऑफिट और सोशल ऑफिट की व्यवस्था न करनी पड़ी। साथ ही हम उन 15 राज्यों में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण को बढ़ाकर 50 प्रतिशत करने की बात न कर पाते। वस्तुतः ऐसा ही हुआ था। लोकसभा में एआईएडीएमके अनुपस्थित हो गई और राज्यसभा में डीएमके ने इसके विरोध में वोट डाला तथा एआईएडीएमके अनुपस्थित रही। उनकी आपत्ति पंचायत राज पर नहीं थी बल्कि इनमें केंद्र की भूमिका पर थी। बाद में दोनों पार्टियों ने तमिलनाडु सरकार चलाई और पंचायत राज मामले पर तमिलनाडु का कामकाज सर्वश्रेष्ठ राज्यों के कामकाज में गिना गया। अंत में यह जोर देकर कहने की बात है कि पीआरआई का विकास बहुत असमान रहा और केरल तथा कर्नाटक (और हाल ही में महाराष्ट्र) में यह बहुत असमान रहा।

उत्तर प्रदेश और झारखंड अब भी इस मामले में पीछे हैं लेकिन अगर पिछले दो दशकों के पंचायत राज विकास का विहंगम सर्वेक्षण किया जाए तो स्पष्ट होगा कि कहीं तेज़ी से प्रगति हो रही है तो कहीं राज्य पिछड़ रहे हैं। दिमाग में कई उदाहरण आते हैं। 1960 के उत्तरार्ध के दशक में जहां केरल में अच्छी प्रगति हुई थी, वहीं 1990 के उत्तरार्ध में कोई पंचायत सफल नहीं दिखाई देती। त्रिपुरा ने हालांकि पिछले दशक के दौरान अच्छी प्रगति की थी, बिहार अब निराशा को आशा में बदल रहा है, हरियाणा, हिमाचल और राजस्थान में सिक्किम और उत्तराखण्ड के पहाड़ी राज्यों की तरह अच्छी प्रगति हुई थी, इन राज्यों ने अब दिखा दिया है कि प्रगति की जा सकती है। अरुणाचल प्रदेश अब भी इस मामले में स्थित ठीकठाक कर रहा है लेकिन गोवा जैसे कुछ छोटे राज्यों ने अच्छी प्रगति दिखाई है। हालांकि समस्याएं वहां भी बनी हुई हैं। इस मामले में संघशासित प्रदेश काफी पिछड़े हुए हैं। वहां पर जिम्मेदारी केंद्र की है। असम, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश व गुजरात वे बड़े राज्य हैं, जहां अच्छी शुरुआत हुई लेकिन अब प्रगति धीमी पड़ गई है। हाल के वर्षों में महाराष्ट्र को छोड़कर पांचवीं अनुसूची वाले सभी 9

राज्य पंचायत राज संबंधी कामकाज में पिछड़ गए हैं। यह सूची अधूरी है, लेकिन यह बात महत्वपूर्ण है कि पंचायती राज के बारे में राजनीतिक इच्छाशक्ति कम नहीं हुई है और यह माना जा सकता है कि यह बढ़ रही है।

साच बात तो यह है कि नौकरशाही की इच्छाशक्ति खासतौर से दिल्ली में कम रही है। इस रिपोर्ट में काफी विस्तार से बताया गया है कि प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने किस प्रकार से पहले मुख्यमंत्री सम्मेलन बुलाया और उसमें ग्रामीण समृद्धि तथा गरीबी शमन (29 जून, 2004) की चर्चा की। उन्होंने इसी सम्मेलन में पंचायत राज निकायों की व्यापक भूमिका की रूपरेखा प्रस्तुत की। समिति ने उनके भाषण को अपनी रिपोर्ट में शामिल किया। इस बात को भी नोट किया गया कि प्रधानमंत्री ने मंत्रिमंडल सचिव को निर्देश दिए कि वे केंद्र प्रायोजित योजनाओं के प्रभारी सचिवों को वे निर्देश भेजें जो इनसे संबंधित हैं और इस संबंध में संवैधानिक प्रावधानों को अनुरूप बनाए। 8 व नवंबर, 2004 को मंत्रिमंडल सचिव ने ऐसा ही किया और उसमें एक प्रावधान यह भी जोड़ा कि सारी कवायद दो महीने के अंदर पूरी की जाए और इस मामले में उन्हें व्यक्तिगत रूप से सूचित किया जाए लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। तीन वर्ष बाद देखा गया कि प्रधानमंत्री के निर्देशों का कोई भी केंद्रीय मंत्रालय गंभीरता से पालन नहीं कर रहा है और तत्कालीन केंद्रीय पंचायत मंत्री (इस लेख का लेखक) ने मंत्रिमंडल सचिव से अनुरोध किया कि कैबिनेट सचिवालय के सचिव सहित एक समिति का गठन किया जाए जो पंचायत राज सचिव से बात करे और पहले दौर की गतिविधि रूपरेखा तैयार करे ताकि केंद्र प्रायोजित योजनाओं के बारे में प्रभावी ढंग से पीआरआई बनाए जा सकें। इसके लिए 15 योजनाएं चुनी गईं और केंद्र प्रायोजित योजनाओं के खर्च के दो तिहाई का हिसाब-किताब बनाया गया और इस मामले में संबंध सचिवों से पूरी तरह सलाह-मशविरा किया गया। ये रिपोर्ट मंत्रिमंडल सचिव को 22 जनवरी, 2008 को प्रस्तुत की गई लेकिन इसके बाद की कोई कार्रवाई नहीं की गई। पिछले पांच वर्षों से इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ और कैबिनेट सचिवालय कहता रहा कि वे ऐसा नहीं करेगा हालांकि असहाय

पंचायत राज मंत्रालय इसके पक्ष में बोलते रहे।

सप्रग-1 के शासन की शुरुआत के समय योजना आयोग ने जिला नियोजन के काम को आगे बढ़ाने के लिए काफी रुचि प्रदर्शित की। इस बात की परिकल्पना संविधान में भी की गई है। पंचायत राज के एक बड़े समर्थक श्री वी. रामचन्द्रन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। श्री रामचन्द्रन केरल राज्य नियोजन बोर्ड के पूर्व उपाध्यक्ष थे। वी. रामचन्द्रन समिति की सिफारिशों के आधार पर योजना आयोग ने राज्य सरकार को विस्तृत मार्गदर्शक नियम प्रचालित किए। इनमें कहा गया कि राज्य की योजनाओं में जिला नियोजन के घटक शामिल करने हैं और इसके बाद ही उन्हें योजना आयोग के सामने अनुमोदन के लिए प्रस्तुत करना है। दुभार्गवश योजना आयोग ने खुद अपने मार्गदर्शक नियमों को ठंडे बस्ते में डाल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस पूरी कवायद को छोड़ दिया है। भले ही एक अप्रैल, 2009 को जिला नियोजन नियम पुस्तिका में यह बात मौजूद है। इस नियम पुस्तिका को योजना आयोग ने प्रचालित किया है। राष्ट्रीय विकास समिति की अधिकार प्राप्त उपसमिति (पंचायत राज) भी लागू नहीं की गई और योजना आयोग की अलमारियों में धूल चाट रही हैं।

हमें यह स्पष्ट है कि मामले में खास बाधा राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी है। वैकल्पिक रूप से नौकरशाही, विकास के तौर-तरीके न समझ पाने और केंद्र प्रायोजित योजनाओं संबंधी मार्गदर्शक नियमों को एक दशक पहले राजनीतिक प्राधिकरण की तरफ से जारी मार्गदर्शक नियमों में संशोधन चाहता है। इस बाधा को भी हमारी रिपोर्ट में दूर कर दिया है कि प्रभावी तरीके से नियम विकसित करके सभी केंद्र प्रायोजित योजनाओं संबंधी मार्गदर्शक नियमों के लिए आदर्श गतिविधि रूपरेखा शामिल करके ऐसा किया जा सकता है। गतिविधियों की रूपरेखा बनाने के अलावा समिति में नीतिगत मुद्दों का एक विस्तृत सर्वेक्षण भी किया है और संपूर्ण पंचायत राज के कामकाज के बारे में मुद्दों पर विचार किया है। इस रिपोर्ट के प्रथम भाग के बाद के अध्यायों में मोटे तौर पर नीतिगत मुद्दों पर बात की गई है और रिपोर्ट में विकास संबंधी राज्य की गतिविधियों पर ध्यान दिया गया है।

जिला नियोजन की तक नीति बातों, पंचायत के लिए वित्तीय संसाधनों प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण की बारीकियों, पंचायत में महिलाओं और वर्चित वर्गों के लिए आरक्षण आदि पर भी ध्यान दिया गया है।

दूसरे भाग में रिपोर्ट में क्षेत्रीय मुद्दों पर बात की गई है। इसके सात अध्यायों में 11 वीं अनुसूची में शामिल विषयों की चर्चा की गई है। ये ग्रामीण जीविका, ग्रामीण मूल सुविधाओं, ग्रामीण अर्थव्यवस्था के उत्पादक क्षेत्रों, शिक्षा, स्वास्थ्य, महिलाओं से संबंधित कार्यक्रमों और कमज़ोर वर्ग से संबद्ध योजनाओं से संबंधित हैं। इसी अध्याय में प्रमुख सिफारिशों का सारांश भी प्रस्तुत किया गया है। साढे तीन हजार शब्दों के इस लेख में रिपोर्ट की सभी सिफारिशों को शामिल करना संभव नहीं है। पांच खंडों की इस रिपोर्ट में 1,500 पृष्ठ हैं। लेकिन संबद्ध उपायों वाले तीन सेट इस रिपोर्ट के प्रमुख खंड हैं। पहला तो ये कि इस तरह की दलीलें देना कि बुरा पंचायत राज संभवतः पंचायत राज न होने से भी बुरा है। इस रिपोर्ट में जोर देकर कहा गया है कि पंचायत राज का मतलब सरपंच राज नहीं होना चाहिए।

इस उद्देश्य से रिपोर्ट में आग्रह किया गया है कि इसके लिए ज़रूरी पीआरआई कानूनी और प्रशासनिक ढंग से बनाए जाएं ताकि वह संस्थागत रूप से ठीक काम कर सकें और पंचायत के सभी निर्वाचित सदस्य उन कार्यक्रमों, प्रमुख फ़ैसलों आदि में शामिल होंं जो पंचायत की तरफ से किए जाते हैं। इस मामले में प्रमुख की इच्छा ही प्रबल नहीं होनी चाहिए और कार्यक्रमों के लागू किए जाने पर प्रभावी ढंग से नज़र रखें और सिफ़े सरपंच की ही देखरेख पर निर्भर न रहे। इससे सभी कार्यों की पारदर्शिता बढ़ेगी और ग्राम सभा तथा उनकी सामाजिक लेखा परीक्षा कराने की जिम्मेदारी बढ़ेगी। इस व्यवस्था में ग्राम/वार्ड सभा को मुख्य उत्तरदायित्व निभाना है। ज़रूरत इस बात की है कि पंचायत राज निकायों को कानूनी रूप से सुपरविजन की जिम्मेदारी लेने के लिए सशक्तीकृत किया जाए और इस बात में सामुदायिक ज़रूरतों की झलक हो तथा संविधान की 11वीं अनुसूची की धारा 243जी और 243जेडी में निहित परिकल्पना के अनुसार आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की योजनाओं पर अमल किया जाए। इस

रिपोर्ट में 73वें और 74वें संविधान संशोधनों की संपूर्णता संबंधी प्रकृति की चर्चा की गई है और इसीलिए कहा गया है कि इसके लागू करने में समग्र दृष्टिकोण अपनाए जाने की ज़रूरत है। ऐसा करके ही संविधान की धाराओं की भावना अमल में आ पाएगी।

दूसरे यह कि इस रिपोर्ट में पीआरआई के स्वस्थ्य वित्तीय साधनों पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें राज्य वित्त आयोगों के कामकाज संबंधी महत्वपूर्ण सिफारिशों की गई हैं और पंचायत राज्य के वित्तीय साधनों का हिसाब किताब सही रखने पर जोर दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया कि उन्हें खुद अपने संसाधन विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस रिपोर्ट में बाद वाले वित्तीय आयोगों की इस बात के लिए सराहना की गई है कि वे पीआरआई के लिए बिना शर्त संसाधन उपलब्ध कराते हैं। उन्हें प्रोत्साहन देने के महत्व पर जोर देते हुए राज्य सरकारों को अपने काम काज में पारदर्शिता लाने और लेन देन की जिम्मेदारी वहन करने को कहा गया है। इस समिति में 14वें वित्त आयोग से यह भी अनुरोध किया

है कि वह वित्त पूल में पीआरआई का अंश बढ़ाकर मौजूदा 2.5 प्रतिशत 6-7 प्रतिशत कर दे तथा निम्नलिखित के लिए पुनर्गठन की प्रक्रिया अपनाए— (1) अधिकार प्रत्यायोजित करने के लिए प्रोत्साहन के रूप में राज्यों को मूलभूत अनुदान देना। (2) पीआरआई को भी उसी तरह के मूलभूत और निष्पादन अनुदान देकर प्रोत्साहित करना ताकि वे पारदर्शी और हिसाब किताब के सही व्यवहार अपनाएं इससे पीआरआई के काम में स्थिरता आएगी और भ्रष्टाचार की आशंका घटेगी।

जो सहयोगी उपाय बताए गए हैं उनके तीसरे सेट में पांचवीं अनुसूची के सभी प्रावधनों को रद्द करना शामिल है। इससे नक्सलवाद की बढ़ती बुराई पर भी लगाम लग सकेगी। यह आंतरिक सुरक्षा के लिए एकमात्र सबसे बड़ी चुनौती है और इसकी चर्चा प्रधानमंत्री भी आंतरिक सुरक्षा संबंधी वक्तव्य में कर चुके हैं। इस काम में सुरक्षा उपायों को राष्ट्रीय प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसी प्रकार से विकास में भी ध्यान दिया जाना चाहिए लेकिन ये दोनों तब तक काफी नहीं होंगे, जब तक भागीदारी विकास पर

आधारित समावेशी सुशासन हक्कीकत न बन जाए। इसी की परिचर्चा पीईएसए में की गई है। अगर किसी अन्य बड़े कारक पर ध्यान न दें तो पीईएसए को संचालित न करने की विफलता ही उन क्षेत्रों में सुरक्षा संबंधी एक गंभीर बाधा के रूप में उभरी है जो पाचवीं अनुसूची में आते हैं। केंद्र सरकार को इस बात का अधिकार (और कर्तव्य) है कि वह इन क्षेत्रों के प्रशासन संबंधी निर्देश जारी कर सकें। इस रिपोर्ट में सिफारिश की गई है अधिकांश पांचवीं अनुसूची वाली सरकारें पीईएसए के मामले में विफल हो चुकी हैं। अतः यह केंद्र सरकार की जिम्मेदारी है कि वह इस मामले में पांचवीं अनुसूची के अंतर्गत उपाय करें। अगर पीईएसए के जरिए नक्सलवाद को विफल करना है तो इसके लिए एक नाटकीय उदाहरण राज्यों के सामने रखना होगा, जिसके अनुसार सबसे निचले स्तर पर लोकतांत्रिक स्थिरता बनाए रखने के प्रयास होने चाहिए। □

(लेखक पंचायती राज मामलों के पूर्व केंद्रीय मंत्री हैं।

ई-मेल : manirsmp@gmail.com)

योजना अब फेसबुक पर

आपकी लोकप्रिय पत्रिका 'योजना' अब फेसबुक पर **Yojana Journal** नाम से पृष्ठ के साथ मौजूद है। हमारे फेसबुक पृष्ठ पर आएं और हमारी गतिविधियों तथा आगामी अंकों के बारे में ताज़ी जानकारी प्राप्त करें।



योजना के फेसबुक पेज की शुरुआत से लगभग दो माह की छोटी-सी अवधि में इसे 3800 से ज्यादा **Likes** के लिए पाठकों का धन्यवाद।

हमारा पता : <http://www.facebook.com/pages/Yojana-Journal/181785378644304?ref=hl>
फेसबुक पर हमसे मिलें, **Like** करें और अपने बहुमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराएं।



IDEAL

For Civil Services

GS

प्रारंभिक परीक्षा परिणाम के बाद

नए पाठ्यक्रम पर मुख्य परीक्षा, 2013 विशेष बैच

दीपक कुमार, रनीश जैन,
अंजेश कुमार व निशांत श्रीवास्तव | दिल्ली केन्द्र 2:00 PM

दर्शनशास्त्र

दीपक कुमार

दिल्ली केन्द्र 12 AUG. 9:15 AM

इलाहाबाद केन्द्र 19 AUG. 5:00 PM

इलाहाबाद केंद्र पर प्रभात राय एवं विवेक कश्यप के द्वारा

GS

प्रारंभिक परीक्षा

(हिन्दी माध्यम)

दिल्ली केन्द्र NOV. प्रथम सप्ताह

इलाहाबाद केन्द्र 19 AUG. 9:00 AM

नीतिशास्त्र, सत्यनिष्ठा एवं अभिरूचि

द्वितीय बैच

दीपक कुमार | दिल्ली केन्द्र 2 AUG. 6:15 PM

टेस्ट सीरीज

मुख्य परीक्षा, 2013

सा. अध्ययन 2 AUG. 10:00 AM

दिल्ली केन्द्र 2 AUG. 12:00 AM

दर्शनशास्त्र 2 AUG. 12:00 AM

CSAT

प्रारंभिक परीक्षा

(हिन्दी माध्यम)

दिल्ली केन्द्र 12 AUG. 11:00 AM

इलाहाबाद केन्द्र 19 AUG. 11:00 AM

दिल्ली केन्द्र : फ्लॉ-1, एम-5, विराट भवन, मुख्यमंडप नगर, दिल्ली - 110009

visit us
www.idealcivilservices.com

For enquiry, contact : 011-47053974, 32081050, 9868365322

इलाहाबाद केन्द्र : 44/14, लाउदर रोड, (बाल्सन चौराहा), इलाहाबाद फोन नं. : 05322462407, 09005793453

YH-107/2013



समानता और लोकतांत्रिक संस्थान

● अरुणा राय
रक्षिता स्वामी

लोगों और सरकार के बीच संवाद में विश्वास की कमी की बात आज सतही और गंभीर, दोनों तरह की बहस में लोकप्रिय समझी जा रही है। राज्य नाम के संस्थान और उसके नागरिकों के बीच संबंधों का स्वरूप केवल एक सामाजिक अनुबंध के रूप में हो सकता है। विश्वास की यह परिभाषा और अपेक्षा, आस्था का कार्य है, और यह उस समान, सतही और युक्तिसंगत संबंध से परे ले जाता है, जो लोकतंत्र अपनी प्रणालियों के जरिये कायम करने का प्रयास करता है। यदि हम कुछ लोकतांत्रिक संस्थागत संरचनाओं की अनिवार्य पूर्वपेक्षाओं पर एक नज़र डालें तो (पंचायत, विधानसभा और संसद में प्रतिनिधियों को भेजने की) चुनाव प्रक्रिया में प्रतिनिधियों का यह दायित्व अंतर्निहित होता है कि वे अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी होंगे। हम एक अनुबंध और संवैधानिक दायित्व के अंतर्गत उन्हें अपनी सत्ता हस्तांतरित करते हैं ताकि वे हमसे किए गए वायदों के अनुरूप कार्य करें। इस प्रक्रिया में लगता है कि नागरिक और सरकार के बीच संबंध सूत्रता में भरोसे और विश्वास की धारणा गलत तरीके से अवस्थित है। कुछ चिंतक तो गांधी जी की उस धारणा की भी आलोचना करते हैं, जो उनके अनुसार 'न्यासिता' के जरिये उभरने वाले न्यायोचित संबंध पर आधारित है। यह संबंध एक आदर्शवादी या अव्यावहारिक समाज को छोड़ कर कहीं भी संभव नहीं है।

भारत में लोकतंत्र और शासन के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखें, जहां जाति, वर्ग, लिंग और धार्मिक पूर्वाग्रहों के साथ पहचान और अंतराल की अनेक परतें दिखाई देती हैं, वहां विश्वास की धारणा व्यक्ति और अंतरंग संबंध पर छोड़नी पड़ती है।

इस धारणा की पहचान लोगों को सरकारों के कामकाज, और सत्ता संबंधों के स्वरूप के गंभीर मूल्यांकन के लिए प्रेरित करती है, जहां सत्ता सामंती सामाजिक मानदंडों, औपनिवेशिक प्रशासनिक पद्धतियों और नये निहित सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्वार्थों की प्रवृत्ति से प्रभावित है। अधिकारों की मांग राज्य के इस दायित्व की समग्र वर्तमान समझ का परिणाम है। सत्ता वोट के जरिये लोगों के साथ किए गए अनुबंध, और कार्यभार ग्रहण करते समय किए गए वायदों पर आधारित है। एक उदासीन और अक्सर संवेदनहीन राज्य द्वारा लोकतांत्रिक और संवैधानिक दायित्वों के निर्वहन में नीति, कानून और कार्यान्वयन की धारणा में समानता को लेकर व्यक्ति अपने को ठगा महसूस करता है। वह शासन के प्रत्येक कदम पर पारदर्शिता और जवाबदेही की दृष्टि से जांच के दौरान राज्य के साथ अनुबंधात्मक संबंध नहीं देख पाता।

इस स्वाभाविक सत्य को समझने में काफी समय लगा है कि शासन एक आवश्यक बुराई से अधिक नहीं है, और इसका हमारे रोज़मरा के जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता

है। औपनिवेशिक दमनकारी शासन से मुक्त आबादी के 'विश्वास' को भंग होने में चार दशक का समय लगा। जब बुनियादी संवैधानिक वायदों और बेहतर जीवन का सपना अनेक लोगों के लिए वास्तविकता नहीं बन पाया तो प्रारंभिक उल्लासोन्माद एक निराशा और संत्रास में तब्दील हो गया।

यह भरोसा कि स्वतंत्रता मिलने मात्र से अभाव स्वयं दूर हो जाएंगे, एक निष्कपट विश्वास बन गया था, लेकिन लोगों ने उसे दूरते हुए देखा। प्रगति और सुधार साथ साथ नहीं चले, सीमांत आबादी ने अपने को असहाय महसूस किया और वह व्यवस्था को बेहतर बनाने में अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रही। एक संस्था के रूप में सरकार, बृहत राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में वैचारिकता के संदर्भ में, का एक स्वतंत्र कार्यात्मक ढांचा है, जिसमें औपनिवेशिक साप्राज्ञ से स्वतंत्र भारत को सत्ता हस्तांतरण के बावजूद कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। क्रांतिकारी आदर्शों में विश्वास रखने वाले एक बुद्धिजीवी ने बड़े प्रगतिशील ढंग से कहा था कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि विचारधारा क्या है, जो पार्टी सत्ता में आएगी वह एक व्यवस्था का इस्तेमाल करेगी। इसलिए सरकार बनी रहेगी।

नेशनल कैम्पेन फॉर पीपल राइट टू इंफार्मेशन (एनसीपीआरआई) के संस्थापक सदस्य और भारत के जाने-माने पत्रकार स्वर्गीय प्रभाष जोशी ने इस स्थिति को एक कहानी के

रूप में पेश किया था। उन्होंने उज्जैन के एक मूर्ख गड़ेरये की उस कहानी को दोहराया था, जो एक छोटी पहाड़ी पर बैठते ही भविष्यद्रष्टा बन गया था। उन्होंने यह कहानी जारी रखते हुए कहा था कि “दिल्ली में रायसिना हिल नाम की एक छोटी पहाड़ी है। उस पर जो भी बैठता है वह एक ही भाषा बोलता है। यदि आप गढ़ा खोदोगे, तो आपको वेल्सले का सिंहासन मिलेगा।” सरकारों का स्वरूप प्रक्रियाओं में, शासन के ढांचे पर उनके प्रभाव में लिपटा रहता है। भारत के संघर्षरत हिस्से में एक आरटीआई कार्यकर्ता ने इस बात को सारगर्भित रूप में पेश करते हुए कहा था कि सरकार की कार्यप्रणाली को समझने की आवश्यकता पर विचारधारा हावी हो जाती है, क्योंकि इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि सत्ता की कुर्सी पर कौन बैठा है, लोगों को उसकी जवाबदेही तय करनी होगी।

ऐसे में दोष सिर्फ़ विचारधारा का नहीं है बल्कि एक ऐसी मशीनरी के ज़रिये वायदों को कारगर ढंग से पूरा करने का भी है, जो अपने अधिकार का इस्तेमाल करने में भ्रष्ट और निरंकुश, दोनों ही है। इस स्थिति को देखते हुए यह महसूस किया गया है कि शासन करने वाले और शासित के बीच एक संबंध बनाने की आवश्यकता है। यह संबंध संस्थागत और वैधानिक पात्रताओं पर आधारित होना चाहिए ताकि तर्कसंगत जवाब की मांग की जा सके। इसमें परोपकारिता और ‘सदाशयता’ के स्थान पर पारदर्शिता और जवाबदेही कायम करने की आवश्यकता होगी।

ग्रामीण भारत में इस समझ का मार्ग उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। लोगों ने लोकतंत्र की समझ बढ़ने पर शासन में अपनी भूमिका और निष्क्रियता को महसूस किया। 70 के दशक में राजस्थान में ज्यादातर ग्रामीण सरकारी कार्य पर ख़र्च के प्रति तिरस्कार का भाव रखते थे। लोगों का मानना था कि ‘धन बर्बाद होता है, तो होने दो यह हमारा नहीं है’ लेकिन 1996 में दिल्ली में एनसीपीआरआई के एक संवाददाता सम्मेलन में सुशीला का बयान एकदम अलग था। एक कम पढ़ी-लिखी महिला जानने के अधिकार का महत्व समझती है, इसे देख कर आश्चर्य हुआ। उसका कहना था : “मैं अपने बच्चे को दस रुपये देकर बाजार भेजती हूँ और

वापस आने पर उससे पूछती हूँ कि हिसाब दो। सरकार मेरे नाम पर अरबों रुपया ख़र्च करती है, तो क्या मैं उससे हिसाब नहीं पूछूँ? हमारा पैसा, हमारा हिसाब।”

जनता की जांच सिद्धांत के ढांचागत तर्क का अनुपालन नहीं करती। यह स्वयं के तर्क का अनुपालन करती है : यह पीछे की ओर कार्य करती है, उस पहचान पर कार्य करती है जो अनुभव से जन्मी है (जो उसके कार्य का परिणाम है। अतः जांच की मांग के कारण उस पाखंड और भ्रष्टाचार में सन्निहित हैं, जो लोग आपूर्ति व्यवस्था में महसूस करते हैं। स्थिति का पता लगाना लोगों को कारण तक पहुंचने के लिए प्रेरित करता है (सरकारी कामकाज में पारदर्शिता और जवाबदेही का बुनियादी अभाव लोगों को चीजों की जांच की आवश्यकता महसूस करता है।

यह एहसास होने पर कि भरोसे और विश्वास के साथ ‘धोखा’ हुआ है, स्वयंसेवी लोग सवाल करने लगते हैं। जहां तक ‘धोखा होने’ के लिए स्वयं लोगों की जिम्मेदारी के तर्क का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि वे अनुभज थे और इसलिए उनका आशिक दोष है। संवैधानिक गारंटीयों को लोगों तक पहुंचाने की व्यवस्था में शामिल न होना और ऐसा न किए जाने के खिलाफ़ कोई सवाल न करने का संबंध लोगों की भूमिका से भी है। ऐसे सवालों की सूची लंबी है - शिक्षक स्कूल काम नहीं कर रहे, डॉक्टर गैर हाजिर हैं, दवाइयां उपलब्ध नहीं हैं, सार्वजनिक वितरण प्रणाली और आंगनबाड़ियों में भ्रष्टाचार है, और सबसे बड़ी बात यह कि व्यवस्था में आचार-संहिता अपनाए जाने की कोई संभावना नहीं रह गई है। व्यवस्था को सार्थक बनाने के प्रयास कारगर नहीं हैं और सार्वजनिक बहस का स्थान हर तरह के कट्टरपथियों ने ले लिया है।

इसी पृष्ठभूमि में भारत के लोगों के एक वर्ग ने सदियों से जड़ पद्धतियों को स्वच्छ बनाने के उपायों की शुरुआत करते हुए पारदर्शिता और जवाबदेही की मांगी की और इसके लिए सूचना के अधिकार की आवश्यकता महसूस की।

इस अभियान की प्रक्रिया में कुछ मिथकों और प्रमाणित असत्य के बारे में बुनियादी सवाल उठाए गए। इनमें सबसे पहला सवाल

यह था कि निरक्षर, अर्द्धसाक्षर व्यक्ति शासन के “उच्चतर, उद्घात सिद्धांतों को नहीं समझ सकते और समझने का प्रयास नहीं करते। दूसरा सवाल यह था कि कानून बनाने की प्रक्रिया समावेशी नहीं हो सकती, जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों के लोग कुछ समय के लिए लोकतात्त्विक प्रक्रिया का हिस्सा बन सकें। तीसरा सवाल यह था कि कानून को आम आदमी द्वारा धारणात्मक रूप नहीं दिया जा सकता। चौथा प्रश्न यह था कि पूर्व-वैधानिक प्रक्रिया, जिसमें पात्रताएं प्रदान की जाती हैं या कम की जाती हैं, की पारदर्शिता सहित समूची प्रणाली की जवाबदेही की मांग नहीं की जा सकती।”

सूचना के अधिकार के सात वर्षों में अनेक खामियां सामने आई हैं। विशेष रूप से महत्वपूर्ण और प्रभावशाली स्व-शासन का स्वरूप बहु-सामूहिक है। उदाहरण के लिए कानून बनाना और कानूनों को पारित करना स्वयं गोपनीयता और जवाबदेही के अभाव के दायरे में आता है। एक बार पारित हो जाने के बाद कानून, यदि संवैधानिक गारंटीयों की भावना के अनुरूप न हो, तो ख़तरा सिर्फ़ लोगों के जीवन को नहीं है, बल्कि स्वयं लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धांतों के प्रति भी ख़तरा पैदा हो सकता है। व्यवस्था ऐसे कानून को लागू करने और उसके संरक्षण का दावा करती है, जो सत्ता के अलोकतात्त्विक संकेंद्रण को रद्द करने के लिए बनाया गया हो। यह समझा जाता है कि कानून का परीक्षण किया गया है, किंतु प्रक्रियाओं और क्रियाविधियों के जटिल जाल में यह स्वयं व्यवस्था का शिकार हो जाता है। पारित किए जाने वाले विधेयक की विषयवस्तु पर संसद में बहस हो सकती है, किंतु कभी कभी नहीं भी होती है, यह स्थायी समिति को भेजा जा सकता है और नहीं भी भेजा जा सकता, लेकिन लोगों के पास कभी नहीं जाता। पारित किए गए कानून के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शनों और आलोचनाओं को सुविधानसार कानून के शासन में व्यवधान की संज्ञा दी जाती है, और प्रदर्शनकारी सरकार के संदेह और दंड का लक्ष्य बनाए जा सकते हैं।

उदाहरण के लिए, संसद द्वारा पारित किए जा रहे कई कानून अभी प्रारंभिक अवस्था में ही सूचना का अधिकार कानून के दायरे से

बाहर कर दिए गए हैं। जैसी भी स्थिति हो, जैसा कि नीचे सार रूप में प्रदर्शित किया गया है, संसद की कार्यप्रणाली का निरंतर अध्ययन करने, उसके तौर-तरीकों को समझने और नागरिकों के जवाब की आवश्यकता है ताकि संसद काम करे। संसद की संवैधानिक सत्ता पर कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता, लेकिन उसकी कार्यप्रणाली के बारे में सबाल जरूर किए जा सकते हैं। सभी राजनीतिक दलों को संसद की कार्यप्रणाली को गंभीरता से अवश्य लेना चाहिए। हम संसदीय अनुसंधान सेवा की वेबसाइट से उद्धृत एक उदाहरण यहां पेश कर रहे हैं “2012 में लोकसभा में प्रश्नकाल 20 में से 11 दिन आयोजित किए गए। 400 ताराकित प्रश्नों में से 49 का मौखिक जवाब दिया गया। राज्यसभा में प्रश्नकाल 20 में से केवल 8 दिन आयोजित किए गए। 400 ताराकित प्रश्नों में से केवल 43 का मौखिक जवाब दिया गया। अधिवेशन के प्रारंभ में सरकार ने 25 लंबित विधेयकों को विचार किए जाने और पारित किए जाने के लिए सूचीबद्ध किया था। इनमें से दोनों सदनों द्वारा 6 विधेयक पारित किए गए। अधिवेशन के अंत में संसद के समक्ष 104 विधेयक लंबित रहे। लोकसभा में 53 प्रतिशत समय का सदुपयोग हुआ अर्थात् 120 घंटों में से 63 घंटे काम हुआ। इसी प्रकार राज्य सभा में 58 प्रतिशत समय का सदुपयोग हुआ अर्थात् 100 घंटों में से 58 घंटे काम हुआ।

2011 में, संसद की बैठक कुल 73 दिन हुई। 2011 में लोकसभा ने 18 प्रतिशत विधेयक पांच मिनट से भी कम समय में पारित कर दिए। लोकसभा में कुल 81 और राज्यसभा में 51 विधेयक पेश किए गए। वर्ष के दौरान केवल 4 विधेयकों पर लोकसभा में और 3 विधेयकों पर राज्यसभा में चर्चा हुई।”

इस संदर्भ में पूर्व-विधायी प्रक्रिया संबंधी व्यवस्था स्पष्ट रूप से कार्यपालिका का यह दायित्व निर्धारित करती है कि वह विधेयकों और नियमों के प्रारूप सक्रिय रूप से सार्वजनिक करे और निर्णय करने की संरक्षित प्रक्रिया में व्यवस्थित रूप से अधिक पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करे। ऐसा करना सही दिशा में एक कदम होगा। इस बात की आवश्यकता को महसूस करते हुए नेशनल कैम्पेन फॉर पीपल राइट टू इंफार्मेशन

(एनसीपीआरआई) ने स्वयं मामले की जांच का काम शुरू किया। एनसीपीआरआई ने निर्णय करने की प्रक्रिया में अधिक पारदर्शिता और जवाबदेही की आवश्यकता के समर्थन में अनेक सार्वजनिक चर्चाएं आयोजित कीं। इसके अंतर्गत सार्थक तौर-तरीकों पर भी विचार किया गया। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार के कार्मिक और प्रशिक्षण मंत्रालय के तहत कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग ने एक कार्यदल का गठन किया ताकि वह 2005 के सूचना का अधिकार अधिनियम की धारा 4 के कार्यान्वयन के लिए लागू किए जाने वाले दिशानिर्देश विकसित करने के बारे में सिफारिशें कर सके। यह धारा निर्णय करने की प्रक्रिया को सरकारी अधिकारियों द्वारा सक्रिय रूप से प्रकट किए जाने से संबद्ध है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रो. बोनो पब्लिको, जो कार्यदल के सदस्यों में से एक थे, ने पारदर्शी और भागीदारीपूर्ण पूर्व-विधायी प्रक्रियाओं के स्वरूप पर अनुसंधान करके एनसीपीआरआई की सहायता की। यह प्रक्रिया विश्व के आठ देशों में पहले से विद्यमान है। इस प्रकार किसी विचार को वास्तविकता में रूपांतरित करके दिखाया गया। तत्संबंधी प्रस्ताव में न केवल कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया बल्कि नीति निर्माण को भी पूर्व-विधायी परामर्श प्रक्रिया के अंतर्गत शामिल करने की बात कही गई।

इसी परिपेक्ष्य में पूर्व-विधायी प्रक्रिया को पहली बार राष्ट्रीय सलाहकार परिषद (एनएसी) के जवाबदेही, पारदर्शिता और शासन संबंधी कार्यदल के समक्ष रखा गया, जिसे कार्यपालिका की निर्णय करने की प्रक्रिया में पारदर्शिता और जवाबदेही बढ़ाने के लिए एक प्रोटोकोल की अनुशंसा करने का अधिकार दिया गया था। कार्यदल ने अनेक सार्वजनिक चर्चाओं का आयोजन किया जिनमें सामाजिक कार्यकर्ताओं, शिक्षाविदों, विभिन्न विभागों के सरकारी अधिकारियों, पूर्व न्यायाधीशों, बकीलों और विधि अनुशंसाकर्ताओं तथा मीडिया के सदस्यों ने हिस्सा लिया। इनमें ऐसी प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता और उसे लागू करने के तौर-तरीकों पर विस्तार से विचार विमर्श किया गया। अनेक चर्चाओं के बाद और नेशनल लॉ स्कूल, द्वारका द्वारा किए गए महत्वपूर्ण अनुसंधान से मिली सहायता के जरिये कार्यदल ने एनएसी को भेजी जाने वाली अपनी सिफारिशों को अंतिम

रूप दिया। एनएसी ने केवल नये कानूनों और नियमों, तथा पुराने कानूनों और नियमों में संशोधनों के बारे में पूर्व-विधायी विचार-विमर्श पर सहमति व्यक्त की। नीतियों को इस प्रक्रिया से बाहर रखा गया।

राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने, अपने विभागीय विचार-विमर्श के आधार पर पूर्व-विधायी प्रक्रिया के बारे में एक नोट का प्रारूप तैयार किया। इसे एनएसी की वेबसाइट पर प्रदर्शित किया गया और इसके कार्यान्वयन के बारे में सार्वजनिक टिप्पणियां और ठोस सुझाव आमंत्रित किए गए। लोगों से मिली फीडबैक के आधार पर पूर्व-विधायी प्रक्रिया व्यवस्था के मसौदे में संशोधन किया गया और एनएसी की अंतिम मंजूरी के लिए प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने मई 2013 में पूर्व-विधायी प्रक्रिया के मसौदे का अनुमोदन किया और अपनी अंतिम सिफारिश के रूप में सरकार को सौंप दिया।

पूर्व-विधायी प्रक्रिया (पीएलपी) से अधिग्राह्य: एक ऐसे फ्रेमवर्क से है जिसमें अनेक व्यवस्थाएं शामिल की गई हैं जिनका पालन कानूनों और नियमों का प्रारूप तैयार करने की प्रक्रिया में सरकारी विभागों/मंत्रालयों द्वारा किया जाना है ताकि उन्हें अधिक पारदर्शी, समावेशी और भागीदारीपूर्ण बनाया जा सके। पूर्व-विधायी प्रक्रिया इस अंतर्निहित समझ पर आधारित है कि लोगों को उन विधायी उपायों को जानने, उन पर सबाल उठाने और उनमें संशोधनों के सुझाव देने का अधिकार है, जिनका असर उनके जीवन और आजीविका पर पड़ने जा रहा हो। लंबे समय से सत्ता के केंद्र खुद की ‘विशेषज्ञता’ और ‘विशिष्ट जानकारी क्षेत्र’ पर निर्भर रहते हुए, निर्णय करने की केंद्रीकृत और गोपनीय प्रक्रिया अपनाते रहे हैं, जो उन्हें स्पष्ट रूप से अर्थव्यवस्था राष्ट्र के व्यापक हित में सर्वाधिक उपयुक्त निर्णय करने का अधिकार और विश्वास प्रदान करती है। पूर्व-विधायी प्रक्रिया में इस तरह की धारणाओं को तोड़ने की क्षमता है और ‘विशेषज्ञता’ एवं अनुभव में वृद्धि के जरिये वह ज्ञान सृजन के नये मार्ग प्रशस्त कर सकती है। यह प्रक्रिया नीति, वर्तमान में जिसमें ‘खेल बदलने वाले’ विचार शामिल हैं, के अर्थ के व्यापक रूप में देखती है, ताकि उसमें राज्य और उसके घटकों, तथा

जनता के बीच नियमित परस्पर वार्तालाप के आधार पर निचले स्तर से परामर्श शामिल किया जा सके। इसमें लोगों की भागीदारी का महत्व इस दृष्टि से है कि सरकार की अनियमितताओं और निष्क्रिय तत्वों का दंड जनता को ही झेलना पड़ता है। पीएलपी सरकारी अधिकारियों के निर्णयों के परिणामों का प्रभाव महसूस करने वाले उन नागरिकों को एक अवसर प्रदान करती है, जो नये कानूनों और नियमों के निर्माण और निर्णय करने की प्रक्रिया को अधिक समावेशी और सुविचारित बनाने में योगदान कर सकते हैं।

सभी सरकारी विभागों और मंत्रालयों द्वारा कानूनों और नियमों (नये और पुरानों में संशोधन) का मसौदा तैयार करते समय निम्नांकित सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाएगा :

- कारणों और उद्देश्यों का सक्रिय रूप से प्रकटीकरण

प्रत्येक विभाग से कहा गया है कि वह 'कारणों और लक्ष्यों का विवरण' हिंदी और अंग्रेजी में भलीभांति तैयार करे और उसे सक्रिय रूप से प्रकट करे। इस ब्यौरे के अंतर्गत नये कानून/नियम तथा प्रचलित कानूनों/नियमों में संशोधन की आवश्यकता, उनके लागू किए जाने के वित्तीय एवं सामाजिक प्रभावों को शामिल किया जाना चाहिए। उद्देश्यों और कारणों का विवरण साधारण गद्य में दिया जाना चाहिए ताकि सामान्य जन उसे आसानी से समझ सकें।

- नियमों/कानूनों के मसौदे का सक्रिय रूप से प्रकटीकरण

उपरोक्त प्रक्रिया के पश्चात् संबद्ध विभाग से यह उम्मीद की जाती है कि वह नियमों/कानूनों के मसौदे को सक्रिय रूप से प्रकट करेगा। ऐसे स्पष्टीकरण में कानून की भाषा को व्यावहारिक अंग्रेजी में उदाहरण देकर समझाया जाएगा। यह प्रक्रिया 90 दिन के भीतर पूरी की जाएगी और ऐसे संबद्ध विभाग की वेबसाइट पर दर्शाया जाएगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई नया कानून/नियम तथा किसी प्रचलित कानून/नियम में प्रस्तावित संशोधन का प्रभाव यदि किसी आबादी के विशेष समूह पर पड़ने जा रहा हो तो संबद्ध प्रारूप की एक भौतिक प्रति उस समूह से संबद्ध प्रत्येक पंचायत, स्कूल, डाकघर, राजीव गांधी सहायता केंद्र आदि को प्रदान की जाएगी। प्रकटीकरण का स्वरूप

ऐसा होना चाहिए, जिसके ज़रिये अधिकारी सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसी पद्धतियों के ज़रिये महत्वपूर्ण दस्तावेज का प्रसार कर सके जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे लोगों को आसानी से अपेक्षित जानकारी मिल सके।

- सार्वजनिक परामर्श

संबद्ध विभाग के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह सार्वजनिक चर्चाओं का आयोजन करे ताकि संबद्ध कानून/संशोधन के ब्यौरों के बारे में लोग सार्वजनिक बहस में हिस्सा ले सकें तथा प्रस्तावित कानूनी उपायों के बारे में प्रभावित पक्ष से फीडबैक प्राप्त करने की अपील सक्रिय रूप से की जा सके।

- फीडबैक के सारांश का रिकॉर्ड

संबद्ध विभाग के लिए यह अनिवार्य होगा कि वह लोगों से प्राप्त होने वाली समस्त फीडबैक के सारांश का एक रिकॉर्ड रखेगा और प्रतिक्रियाओं का एक ब्यौरा तैयार करेगा। यह ब्यौरा कैबिनेट के समक्ष रखा जाएगा ताकि वह अधिक सुविचारित ढंग से निर्णय कर सके। बाद में लोगों से प्राप्त फीडबैक का रिकॉर्ड कानून/नियम का अध्ययन कर रही संबद्ध स्थायी संसदीय समितियों के समक्ष रखा जाएगा।

- भारत सरकार द्वारा जारी प्रशासनिक आदेश के ज़रिये पीएलपी को सभी विभागों और मंत्रालयों के लिए अनिवार्य बनाया जाएगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक संबद्ध विभाग में लोगों से मिलने वाली शिकायतों के समाधान के लिए एक जन उपयोगी शिकायत तत्र कायम किया जाएगा, जिसमें सरकार द्वारा पूर्व विधायी प्रक्रिया के दिशानिर्देशों का अनुपालन न किए जाने की स्थिति में शिकायत दर्ज कराई जा सके। पीएलपी का अनुपालन कारगर ढंग से सुनिश्चित करने के लिए विधि और न्याय विभाग को नोडल प्राधिकरण बनाया जाएगा।

शासन की नयी धारणा की शुरूआत पर तेजी से एक नज़र डालें तो कहा जा सकता है कि यह भागीदारीपूर्ण होगी और इसमें यह ज़रूरी होगा कि नागरिकों को लोकतंत्र की प्रक्रिया और निगरानी में अवश्य शामिल किया जाए। इसमें कानून और नीति के क्षेत्र में उनका योगदान प्राप्त करना एक नया आयाम है। सरकार और नागरिकों दोनों को ही यह सावधानी बरतनी होगी कि

वे संवैधानिक गारंटीयों के प्रति सवाल न उठाएं अथवा उनका उल्लंघन न करें। वे अटल रहनी चाहिए। पीएलपी का उद्देश्य राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिष्ठान के कार्य निष्पादन और जवाबदेही का समाधान करना है। इसका क्षेत्र किसी एक कानून की जांच की मांग करना नहीं है बल्कि सभी प्रस्तावित कानूनों की जांच की मांग करना है। जैसा कि एक दलित सूचना का अधिकार कार्यकर्ता स्वर्गीय मोहन जी ने कहा था कि पीएलपी के ज़रिये 'वोट का प्रभाव पांच वर्ष तक' बनाए रखा जा सकता है। यह नौकरशाही को भी प्रासंगिक और जवाबदेह बनाने में मदद करता है।

इस बात पर पुनः बल देना महत्वपूर्ण है कि पूर्व विधायी प्रक्रिया अधिक पारदर्शिता और भागीदारी की संभावनाओं को बढ़ाती है और ऐसा करते समय संसदीय प्रक्रिया की भूमिका और उसके क्षेत्र की अनदेखी नहीं करती। इसीलिए इसे पूर्व-विधायी प्रक्रिया कहा गया है। पूर्व-विधायी प्रक्रिया को इस रूप में समझा जा सकता है कि यह लोगों को शासन के कार्यों और राज्य के सामान्य कार्यों से पुनः जुड़ने का अवसर प्रदान करती है। हाल में शुरू किए गए 'बेहतर शासन सुधारो' की कार्य सूची में यह एक स्वागत योग्य परिवर्तन है, जो राज्य को कोरे कार्यान्वयन के दायित्व से छुटकारा दिलाती है और सरकारी क्षेत्र के अक्षम पदाधिकारियों के स्थान पर निजी क्षेत्र की विशेषज्ञता का लाभ उठाने का अवसर प्रदान करती है। पूर्व-विधायी प्रक्रिया सरकार को अपने निर्णय (नियमों और कानूनों के रूप में) करने का दायित्व अधिक पारदर्शी और जवाबदेहीपूर्ण ढंग से लागू करने और उन्हें अधिक नागरिकों की भागीदारी के साथ हासिल करने का सामंजस्यपूर्ण अवसर प्रदान करती है।

हम अपनी बात का सारांश प्लेटो के शब्दों में रख सकते हैं, जिन्होंने अपने जोड़ीदारों के साथ हमें लोकतंत्र की धारणा प्रदान की थी : "जनकार्यों के प्रति उदासीनता का मूल्य बुरे व्यक्ति द्वारा शासन के रूप में चुकाना पड़ता है।"

(लेखिका अरुणा राय एवं रक्षित स्वामी एनसीपीआरआई में सदस्य हैं।
ई-मेल : arunarai@gmail.com)

वित्तीय वैश्वीकरण के युग में लोकतंत्र

● श्रीनिवास राघवेंद्र

वै

श्वीकरण की कोई मानक परिभाषा हो या न हो, लेकिन इस बात पर सर्वसहमति होगी कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया निरंतर मानव जीवन के अनेक पक्षों पर प्रभाव डालती रही है। वैश्वीकरण कोई नया शब्द नहीं है और परिवर्तन प्रक्रिया पर इसका प्रभाव लंबे समय बाद दिखाई देता है। यह मानव जीवन के सभी पक्षों पर पड़ता है और मानव उद्यमिता को कोलंबस के समय से ही प्रभावित करता रहा है। जब से कोलंबस ने अन्य देशों के साथ यूरोप और अमरीका के संबंध स्थापित करना शुरू किया था, तब से वैश्वीकरण मानव की सभी गतिविधियों पर अपना प्रभाव डालता रहा है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, जीववैज्ञानिक और पर्यावरण संबंधी सभी पक्ष इससे प्रभावित होते रहे हैं। हाल के अंतीम में दो ऐसे कालखंड आए, जब वैश्वीकरण ने विश्वव्यापी परिवर्तनों की शुरुआत की। पहली अवधि थी 19वीं सदी का उत्तरार्ध, जब यूरोप के उपनिवेशवाद के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ा। दूसरा था 20वीं सदी, जिसकी शुरुआत हुई 1980 के दशक में, और जो अब भी जारी है। इसकी खास बात थी मुक्त बाजार वाला पूंजीवाद जिसकी अगुवाई की वित्तीय बाजार के विकास ने और जिसे वित्तीय बाजारीकरण के चलते वैश्वीकरण के वित्तीयकरण वाले चरण की संज्ञा दी गई।

इस लेख का उद्देश्य है वैश्वीकरण के दूसरे चरण के उन गहन परिवर्तनों पर चर्चा करना, जिसकी शुरुआत वैश्वीकरण के दूसरे चरण में हुई। खासतौर से आर्थिक परिवर्तनों द्वारा प्रारंभ किए गए वैश्वीकरण के संदर्भ में। इसके कारण बाजार के अर्थशास्त्र को राजनीतिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। वैश्वीकरण के दूसरे चरण की शुरुआत 1980 के दशक में की और इसके साथ शुरू हुई राष्ट्र, राज्य की परिकल्पना, जहां घरेलू राजनीतिक

व्यवस्था को कमोबेश राज्य से ज्यादा संप्रभु माना जाता था। वास्तव में ब्रेटनवुडस सम्मेलन के समय 1944 में इसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था मौजूद थी, जिसमें दो विश्व युद्धों द्वारा बाधा पड़ी। हालांकि शीत युद्ध के पुनर्जीवित होने की संभावना सीमित थी, लेकिन पश्चिमी देशों के लोकतंत्र में मौजूद आर्थिक सफलता इस राजनीतिक संरचना का आधार बनी और उसके जरिये वैश्वीकरण की प्रक्रिया में और गहनता आई।

ब्रेटनवुडस समझौते के आधार पर जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संरचना बनी उसका समर्थन संप्रभु राष्ट्र राज्यों ने किया। उन्होंने इससे जो स्वर्णिम युग का पूंजीवाद निकाला वह 1970 तक ध्वस्त हो गया। उसकी जगह एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था ने ली, जिसके अंतर्गत समाहित थी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था। इसी ने वैश्वीकरण की गहनता को विस्तारित किया। शीत युद्ध युग की समाप्ति और साम्यवाद के पतन ने वैश्वीकरण के विस्तार का दरवाजा खोल दिया और इससे इस प्रक्रिया में गहनता आई। खासतौर से पश्चिमी गोलार्द्ध में यह बात ज्यादा सच साबित हुई। लेकिन वैश्वीकरण के विस्तार और गहनता ने उस नींव की आर्थिक बुनियाद ही ख़त्म कर दी, जिस राजनीतिक संरचना पर यह खड़ा था और इससे उस युग के विकास को बल मिला, जिसे हम वैश्वीकरण का द्वितीय चरण कहते हैं।

समसामयिक साहित्य में वैश्वीकरण के द्वितीय चरण के कारण के अनेक प्रकार के चित्रण किए गए हैं। ये राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में वैश्वीकरण के दूसरे चरण से संबंधित हैं। इन्होंने राजनीतिक प्रतिनिधित्व और आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया, जिसने काइनेशियन आर्थोडॉक्सी की जगह ली और जिसने आगे बढ़कर वैश्वीकरण के दूसरे चरण का स्थान ग्रहण कर लिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समय में पुनर्नी आर्थिक आर्थोडॉक्सी की जगह मुक्त व्यापार की विचारधारा आयी, यानी नीतियां वही रहीं और काइनेशियन क्रांति हो गई। इस क्रांति के कारण राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन आया। वित्तीय और मुद्रा संबंधी नीतियों की सूचना जहां वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर बने काइनेशियन आर्थिक सिद्धांत से मिली, वहीं राज्य को इन नीतियों को लागू करने वाला माना गया। विश्व युद्ध के बाद जो राजनीतिक माहौल बना और पश्चिम पूंजीवाद और सोवियत समाजवाद के बीच जिस तरह की प्रतियोगिता शुरू हुई उससे आर्थिक चिंतन में योगदान मिला तथा आर्थिक युग की संगतता में परिवर्तन आया। अमरीका ने विश्व युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के बाद जो आर्थिक सहायता दी वह किसी इरादे से नहीं बल्कि यों ही काइनेशियन क्रांति की आर्थिक नीतियों का परीक्षण करने का कारण बनी। यह बात सिर्फ काइनेशियन नीतियों से ही नहीं साबित हुई बल्कि नये सिद्धांत के आधार पर सिद्ध हुआ कि युद्ध पर किया गया खुर्च किस प्रकार से अनुत्पादक साबित हुआ और किस प्रकार से बेरोजगारी बढ़ गई और अर्थव्यवस्थाएं बीमार हो गई। इसके कारण सामाजिक लोकतंत्र की नीतियों को बौद्धिक आधार मिला और यह राष्ट्र राज्य की विचारधारा का मध्य बिंदु बना और इसके कारण श्रमिक वर्ग की आर्थिक नीतियों और पूंजीवाद के बीच सहयोग लाया गया। यही नहीं, कल्याणकारी राज्य के उदय के साथ यूरोप के इतिहास में एक समुद्धि का युग भी आया, जिसे पूंजीवाद का स्वर्णिम युग कहा गया। पश्चिमी अर्थव्यवस्थाएं निर्बाध रूप से विकसित हुईं, जिससे कल्याणकारी राज्य और काइनेशियन शैली के आर्थिक प्रबंधन की नीतियों के बारे में सकारात्मक प्रतिक्रिया पैदा हुई। राज्य को अर्थव्यवस्था का चालक

माना गया और इसकी राजनीतिक प्रकृति पर सवाल नहीं उठाए गए। ज्यादा महत्वपूर्ण बात ये रही कि राज्य की कार्रवाई को पूँजीबाद के हितों के विरुद्ध तब तक नहीं माना गया, जब तक काइनेशियन शैली के श्रम सहयोग ने ऐसा निवेश वातावरण नहीं पैदा कर दिया, जो लाभ के हिसाब से चलने वाले निजी निवेश के अनुकूल हो लेकिन लाभ ऐसा चालक था, जिसके कारण प्रगति मंद हो गई और 1970 में आगामी लाभ कम हो गया और इस प्रकार से ऐसे सहयोग की सीमा दिखाई देने लगी। 1973 और 1979 में दो बार तेल की महंगाई के कारण झटके लगे और मुद्रास्फीति संबंधी दबाव महसूस किए गए। अर्थव्यवस्थाएं पहले ही मंद हो रही थीं और काइनेशियन नीतियों की उपयुक्तता पर भी सवाल उठाए जाने लगे, बाद में यही परंपरागत बुद्धिमत्ता बन गई।

मिल्टन फ्राइडमैन की अगुवाई में खासतौर से अर्थशास्त्रियों ने काइनेशियन सिद्धांतों पर सवाल खड़े करने शुरू कर दिए। उनकी दलील थी कि राज्य की आर्थिक नीतियां और खासतौर से वित्तीय और मुद्रा संबंधी नीतियां उन उम्मीदों को विकृत करती हैं जो आर्थिक एजेंटों द्वारा बनाई जाती हैं और इस प्रकार से कम अवधि में सप्लाई के निर्णय माइक्रोइकोनॉमिक लेबल पर प्रभाव नहीं डालते और दीर्घावधि में रोजगार इनसे अप्रभावित रहता है। फ्राइडमैन सिद्धांत के विकास के दूसरे चरण को अक्सर मॉनीटरिज्म मार्क टू अथवा रॉबर्ट लुकास की अगुवाई में नया क्लासिकल स्कूल कहा जाता है। इससे आर्थिक और मुद्रा संबंधी नीतियों की अप्रभावशीलता सिद्ध हुई और दलील दी गई कि श्रमिकों की आशाएं युक्तिसंगत हैं और इनसे ये जानकारी मिलती है कि इन नीतियों के वास्तविक परिणाम क्या होंगे। क्या इनसे सप्लाई के निर्णय बदल जाएंगे और इस प्रकार से माइक्रो इकोनॉमिक पर इन नीतियों का असर नहीं पड़ेगा। संक्षेप में इसे तर्क की नीति संबंधी अप्रभावशीलता कहा जाता है।

मुद्रा संबंधी जवाबी क्रांति का आर्थिक प्रबंधन की शैली पर बहुत असर पड़ा। नीति अप्रभावशीलता का तर्क इसलिए बार-बार इस्तेमाल किया गया, ताकि इकोनॉमिक एजेंट सप्लाई निर्णयों के साथ तालमेल कर लें और अब राज्य अथवा मुद्रा संबंधी प्राधिकरण

द्वारा इस नीति का सिफ़्र ऐलान कर दिया जाए, इस तर्क को और आगे बढ़ाया गया और दावा किया गया कि राजनीतिक परिस्थितियों में लोकतंत्रीय सरकार इस स्थिति में नहीं होगी कि वह अपनी मुद्रा संबंधी नीतियों का निर्वाह करे। इसीलिए तर्क दिया गया कि इस प्रकार की विवेकाधिकार वाली नीतियां बनाने से राज्य का प्रभाव नकारात्मक होगा और सप्लाई निर्णयों और निवेशकों की भावनाओं पर यह नकारात्मक प्रभाव डालेगा। इस प्रकार से मुद्रा संबंधी जवाबी क्रांति में एक मुद्रा संबंधी स्वतंत्र प्राधिकरण का तर्क मौजूद था, जैसा कि केंद्रीय बैंक हो सकता है, जो नियम आधारित मुद्रा संबंधी नीति राज्य के लिए बनाएगा और इस तरह से राज्य की राजनीति मुद्रा संबंधी नीतियों के निर्धारण से अलग कर दी जाएगी।

एक तथ्यप्रक स्वतंत्र और गैर पक्षपाती तथा गैर-राजनीतिक केंद्रीय बैंक अच्छा विचार था, लेकिन न्यूजीलैंड में जब इसे अमल में लाया गया तो जल्दी ही, अनेक विकसित और विकासशील देशों ने इसका अनुसरण किया। इस प्रकार से मुद्रा संबंधी जवाबी क्रांति जैसे काइनेशियन क्रांति को फिर से परिभाषित किया गया और उसके अनुसार राजनीतिक माहौल में उसकी भूमिका ढूँढ़ी गई। कम से कम दख़लांदाजी करने के अपने आदर्श के अनुसरण में यह राज्य के द्वारा उठाया गया पहला क्रदम था और इसके जरिये मुद्रा संबंधी नीति पर नियंत्रण कम से कम होता था, लेकिन वित्तीय नीति अब भी राज्य के नियंत्रण में रही।

मुद्रा संबंधी जवाबी क्रांति ने परंपरागत राजनीतिक विचारधारा को एक संपूर्ण आर्थिक तर्कसंगतता प्रदान की। यह उस विचारधारा के अनुरूप थी, जिसके अनुसार राज्य सरकार द्वारा कम से कम दख़लांदाजी की पैरोकारी की जाती थी। इस प्रकार से जवाबी क्रांति के अर्थशास्त्र और परंपरा पर केंद्रित न्यूनतम हस्तक्षेप वाली सरकारी विचारधारा 1980 के दशक तक चलती रही, जब विकास के लिए परिस्थितियां अनुकूल हुई और दुनिया भर में मुक्त वित्तीय क्षेत्र के विकास की संभावनाएं बनीं। वित्तीय नीति की फिर से रूपरेखा बनाई गई, जो कर संबंधी पर्यावरण के अनुकूल थी और जिससे निजी निवेशकों की भावनाओं और

वित्तीय बाजारों को बल मिलता था। हालांकि वित्तीय बाजार को 1980 और 1990 के दशकों में नये झटके सहने पड़े। उदाहरण के लिए 1987 में एक दिन शेयर बाजार ध्वस्त हो गया और डॉटकॉम गिरकर 2000 पर आ गया लेकिन ऐसी परिस्थितियों में आधुनिक वित्तीय क्षेत्र की नम्यता की सराहना की गई, उसे मजबूत बताया गया। कहा गया कि वह समृद्धि में योगदान करता है और उसके आर्थिक विस्तार संबंधी पक्ष की सराहना की गई।

मुद्रा संबंधी आर्थोडॉक्सी जिसने राज्य की मुद्रा संबंधी नीतियों और वायदों का स्थान लिया, अपनी ही निर्धारित की गई प्रक्रिया में फंस गया। मुद्रा संबंधी यह नीति स्वतंत्र केंद्रीय बैंकों ने संचालित की थी और जो वित्तीय क्षेत्र के विस्तार का समर्थन करती थी। यह उस उद्देश्य— वैज्ञानिक जोखिम के कोटि निर्धारण तंत्र का शिकार हो गई। धीरे-धीरे क्रेडिट रेटिंग एजेंसियां ऐसी सेवाएं प्रदान करने लगी और क्रमशः पूरी वित्तीय व्यवस्था के जोखिम हामीदारी के जरिये संभालने लगीं। उन्होंने उन बैंकों की भी हामीदारी संभाली जो खुले बाजार में अपनी गतिविधियां चलाते थे जो मुद्रा संबंधी नीतियों के अंतर्गत होती थीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि स्पष्ट रूप से इनका उद्देश्य तो जोखिम की हामीदारी की तथ्यप्रक और वैज्ञानिक प्रक्रिया होती थी, लेकिन इससे बाजार की भावनाएं भी मापी जा सकती थीं। इस प्रक्रिया के अंतर्गत बाजार की भावनाओं को इन जोखिम निर्धारण तंत्रों द्वारा संस्थागत बना दिया गया और एक सिद्धांत यह प्रतिपादित किया गया कि स्वतंत्र केंद्रीय बैंकों द्वारा दिखाए गए रास्ते के जरिये मुद्रा संबंधी नीतियां बनाई जा सकती हैं जो वित्त बाजार के विस्तार का समर्थन करती हों। इसके बदले इन्हें ठीक प्रमाणित किया गया। परिणाम ये हुआ कि बड़े पैमाने पर वित्तीयकरण सामने आया। वित्तीय नवाचार स्वयं प्रतिपादित तर्क के जरिये न्यायोचित ठहराया गया और इस तरह से वैश्वीकरण के दूसरे चरण के दौरान राज्य ने इसे कम महत्वपूर्ण माना।

इस विस्तार के दौरान समझा गया कि जिस प्रकार का वित्तीय नवाचार जिसने वित्तीय बाजार के कार्यों में कृशलता बढ़ाई थी, वह वैज्ञानिक हामीदारी प्रक्रिया के साथ मिलकर

पूरी वित्त व्यवस्था में नम्यता बढ़ाएगी। इस तरह से एक प्रतियोगी बाजार विकसित हुआ और इस बाजार की कुशलता महत्वपूर्ण समझी गई क्योंकि वह नम्यता और वित्तीय तंत्र को कुल अर्थव्यवस्था के अंतर्गत बढ़ावा देती थी। जैसे-जैसे वित्तीयकरण की प्रक्रिया गहराती गई, क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों का व्यापार और प्रभाव बढ़ता गया और उन्होंने बाजार की भावनाओं को प्रभावित करना शुरू कर दिया। बाजार की गतिविधियां भी प्रभावित हुई और वे आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था के कामकाज की अभिन्न अंग बन गईं।

वर्ष 2008 में वित्तीय बाजार का दुखद पतन हुआ और इसके साथ ही पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक संकट भी दिखाई देने लगा। इससे क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों का व्यापार प्रभावित नहीं हुआ और न ही मुद्रा संबंधी आर्थोडॉक्सी पर कोई असर पड़ा। इसके उल्टे दोनों यानी मुद्रा संबंधी आर्थोडॉक्सी और क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों ने वित्तीय नवाचारों और संकट से पहले के जोखिम का समर्थन किया और इससे उनकी स्थिति मजबूत हुई। अब ऐसा लगता है कि यह राजनीतिक रूप से ठीक नहीं था भले ही संकट गहरा जाता। वास्तविकता यह है कि अगर चालू संकट का इस्तेमाल करते हुए क्रेडिट रेटिंग एजेंसियां प्राइवेट वित्तीय संस्थानों के कोटि निर्धारण से आगे बढ़ जाएं तो वे निश्चय ही राष्ट्र राज्य के रूप में आर्थिक मामलों को संचालित करेंगी। चालू संकट और क्रेडिट एजेंसियों ने अनुशासन लाने वाले संस्थान की भूमिका तब संभाली, जब संप्रभु ऋण की रेटिंग पर खर्च बहुत होने लगा और तथ्यपरक तथा वैज्ञानिक ढंग से हामीदारी की प्रक्रिया ने मुद्रा संबंधी आर्थोडॉक्सी पर वर्चस्व बना लिया।

राजनीति को वित्तीय मामलों से अलग कर देने की आर्थिक युक्तिसंगतता से आमतौर पर आर्थिक नीतियों के संचालन संबंधी अनिश्चय कम हो जाएगा और विवेकाधिकार प्रकृति वाली वित्तीय नीति पर सवाल उठाए गए, क्योंकि यह निवेशकों की उम्मीदों को बुरी तरह से प्रभावित करता है और वांछनीय है कि वह वित्तीय नीतियों के संचालन में अनिश्चय को न्यूनतम बनाए। इस तर्क में 1980 की उस चर्चा की गूंज मिलती है, जब राज्य की राजनीति से वित्तीय नीतियों को अलग कर

दिया गया था और उसका आधार ये बताया गया कि विवेकाधिकार वाली मुद्रा संबंधी नीतियां असंगतता लाती हैं और उससे निवेशकों की उम्मीदें भावी नीति के बारे में बदल जाती हैं। इसके कारण बाजार की भावनाएं बुरी तरह से प्रभावित होती हैं। इसी तरह से ये भी तर्क दिया जाता है कि विवेकाधिकार वाली वित्तीय नीतियों की जगह राजकोषीय नीति संबंधी नियम लाए जाने चाहिए जिनसे बाजार की स्थिरता बढ़ेगी और उसमें पारदर्शिता आएगी।

बिना राजनीतिक प्रक्रिया से अलग किए और बिना विवेकाधिकार के राजकोषीय नियम और नीतियां लागू कर देने से स्पष्टतः यूरोपियन सेंट्रल बैंक की आर्थिक नीतियों को बल मिलेगा। इस संरचना को यूरोपियन सेंट्रल बैंक ने निम्नलिखित प्रकार से बताया है-

मास्ट्रेच्य संधि में तीन अलग प्रकार की नीति निर्धारण की प्रक्रियाओं की कल्पना की गई थी। ये हैं— 1. पूर्ण हस्तांतरण की

एक तथ्यपरक स्वतंत्र और गैर-पक्षातीत तथा गैर-राजनीतिक केंद्रीय बैंक अच्छा विचार था, लेकिन न्यूयॉर्क में जब इसे अमल में लाया गया तो जल्दी ही, अनेक विकसित और विकासशील देशों ने इसका अनुसरण किया।

क्षमता 2. नियम आधारित राजकोषीय नीति का समन्वय 3. अन्य आर्थिक नीतियों में साट क्वार्डिनेशन (ईसीबी 2008-22)

यूरोपीय सेंट्रल बैंक अपनी मुद्रा संबंधी नीतियों की सीमा पार कर चुका था अतः उसने तकनीकी रूप से दोनों निर्माणों को सलाह देना और प्रभावित करना शुरू कर दिया। यह पक्ष यूरोजोन के सदस्य देशों की नीतियों को प्रभावित करते थे। न्यू कंसेसंस माइक्रो इकोनॉमिक्स से बैंडिक विचारधारा ग्रहण करते हुए मुद्रा संबंधी नये संस्करण का एक विनिर्माण लाया गया और यूरोपियन सेंट्रल बैंक इसे विस्तारमान राजकोषीय शुचिता अथवा राजकोषीय समेकीकरण कहता है। मार्केट संटीमेंट्स को बढ़ावा देने के लिए उसने परेशान देशों यानी आयरलैंड, इटली, ग्रीस, पुर्तगाल और स्पेन में इसे बढ़ावा देना जारी रखा। यूरोपियन सेंट्रल बैंक साट क्वार्डिनेशन का भी प्रयोग करता रहा और इसके लिए उसने दबाव और समर्थन की नीति अपनाई

और इस तरह से परेशान देशों में उसने श्रम बाजारों में सुधार की नीतियों को प्रभावित किया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि शिक्षा क्षेत्र में अनुसंधान करने वाले और मुद्रा संबंधी आर्थोडॉक्सी के विश्लेषक सरकार के व्यापक राजनीतिक प्रतिनिधित्व और विभिन्नता की कमियों का विश्लेषण करेंगे। इसकी सिफारिशों को शामिल करके बनाए गए मामले में उन संस्थानों के पुनर्निर्माण की बात है जो फ़ैसलों को सार्वजनिक व्यवस्था के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। इस प्रकार के राजकोषीय संस्थानों के लिए यह निर्धारित किया गया है कि वे 1. राजकोषीय घाटे की संवैधानिक सीमा के खिलाफ़ न जाएं अथवा न तो अधिक खर्च करें और न ही अधिक कर वसूली करें। 2. चुनाव संबंधी नियम जिनमें राजनीतिक जबाबदेही और प्रतियोगिता शामिल किए गए हों और 3. प्रक्रिया संबंधी नियम जिसके अनुसार बजट प्रक्रिया चले। इस प्रकार के वित्तीय संस्थानों पर अनुसंधान से अनेक ग्रंथ तैयार किए गए, जिनके आधार पर नियम आधारित राजकोषीय नीतियां बनाने के तर्क दिए गए ताकि नीति निर्धारकों को राजकोषीय घाटे के कारण होने वाले प्रभावों को कम करने में पश्चिमी और विकासशील देशों को सहायता मिले।

विरोधाभास की बात ये है कि बाजार की भावनाओं के तर्क पर जिस आर्थिक पुनर्निर्माण की नींव रखी गई कि उसी ने पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं को महाविनाश के कगार पर पहुंचा दिया और वे अब राज्य के सुधारों और आर्थिक वसूली के आधार पर आर्थिक युक्तिसंगतता वाले राज्य बन गए हैं। यही नहीं, नीति निर्धारण करते हुए ये संस्थान और राज्य उन तथाकथित राजनीतिक दबावों की बात करते हैं जो इस संकट की राजनीति से निकलते हैं। इस प्रकार से वे इसके परिणामस्वरूप नीतियों को लोकतंत्र के प्रतिनिधियों की राजनीति से राज्य की आर्थिक नीतियों के संचालन को अलग करते हैं। यह एक प्रकार से लोकतंत्र की नींव कमज़ोर करने के समान है। □

(लेखक आयरलैंड के कैर्न स्कूल ऑफ बिजनेस एंड इकोनॉमिक्स के अर्थशास्त्र विभाग से संबद्ध हैं।

ई-मेल : s.raghav@nuigalway.ie)

नए बदलाओं के अनुरूप नयी रणनीति...

आस्था IAS

14 नया बैच
Aug



R.Kumar एक शिक्षक जो एक साथ 500 से अधिक छात्रों को G.S. पढ़ते हुए Shah Faesal, (1st Rank IAS 09) with R.Kumar Director AASTHA IAS

सामान्य अध्ययन

by **R.Kumar & Team**

**R. Kumar, S.Ranjan(Associates of IIPA), Dr.M.Singh
S.Mishara, & other Experts with for 4 members team for Ethics... Sec.**

जीवंत पत्राचार पाठ्यक्रम शुल्क

- 2013 मुख्य परीक्षा एवं 2014 प्री० एवं मुख्य परीक्षा के लिए अद्यतन प्रिन्टेड एवं क्लास नोट्स उपलब्ध।
- प्री० एवं मुख्य परीक्षा के सभी पेपर का कुल पत्राचार शुल्क-Rs. 15000/- G.S. मुख्य परीक्षा-Rs. 8000/-
- प्रारम्भिक परीक्षा - Rs. 6000/-, वैकल्पिक विषय - Rs. 6000/-, फोन से मंशय सम्पादन सुविधा।
- ड्राफ्ट AASTHA IAS के नाम बनवायें। शुल्क को बैंक खाते में भी जमा करया जा सकता है।

आस्था IAS एक बेहतर विकल्प क्योंकि

- सभी शिक्षक विषय विशेषज्ञ एवं अनुभवी
- श्रेष्ठ नोट्स, गहन अध्यापन, उच्चस्तरीय समझ के आधार पर to the point लेखन शैली का विकास
- प्रोजेक्टर, इंटरनेट तथा अन्य आधुनिक सुविधाओं का उपयोग सहायक सुविधाएँ जैसे सफल छात्रों द्वारा मार्गदर्शन,

- शाह फैसल, (1st Rank- IAS 09) मिथिलेश मिश्रा (46th Rank IAS 10) नरेन्द्र मीणा (46th Rank IAS 09) प्रशांत सिंह, राजीव रंजन, प्रभाकर चौधरी विवेक गुप्ता द्वारा आस्था IAS के छात्रों का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन किया गया। UPSC के साथ UP., BPSC, MP, Raj, JPSC, Uttara., Haryana, Chattis.PCS की भी तैयारी आवासीय सुविधा उपलब्ध।

वैकल्पिक विषय:- उर्दू, मैथिली, हिन्दी साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र तथा अन्य...

705, 3rd Floor (Opposite Police Booth) Mukherjee Nagar, Delhi-09 -011 27651392, 9810664003

धर्मनिरपेक्षता और समावेशी समाज

● राजीव भार्गव

इस लेख को तीन मूल्य- शांति, स्वतंत्रता और समानता निर्देशित कर रहे हैं। इन तीनों मूल्यों में पहले से ही समावेशी समाज का विचार निहित है। समकालीन संदर्भ में समावेशी समाज का अर्थ स्वतंत्र और समान व्यक्तियों के समूह से है। समावेश स्वयं में मुद्दा नहीं बल्कि मुद्दा स्वेच्छा से निष्पक्ष और समान शर्तों पर समावेश का है। यह भी कहा जा सकता है कि समावेश कला का वह शब्द है जिसकी अंगीभूत विशेषता स्वतंत्रता और समानता है तथा शांति इसकी पूर्व आवश्यक शर्त है। उद्धार करने वाले समकालीन आंदोलनों का मकसद लोगों को राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वर्गों के अनुसार पायदान पर रखना नहीं है। इनका उद्देश्य लोगों को दमनकारी व्यवस्था के तहत लाना भी नहीं है। उद्धार करने वाले समकालीन आंदोलन इस मान्यता से प्रेरित हैं कि सभी के लिए स्वतंत्रता और समानता में वृद्धि समावेश के जरिये ही की जा सकती है।

समावेश को निष्पक्ष और समान शर्तों पर दो तरह से देखा जा सकता है। सीमित दृष्टिकोण में समानता को वितरण के संदर्भ में देखा जाता है। यह दृष्टिकोण भौतिक संसाधनों के वितरण को समानता में देखता है। इसमें स्वतंत्रता की कल्पना भौतिक संसाधनों तक निर्बाध रूप से समान पहुंच के रूप में की जाती है क्योंकि व्यक्ति की क्षमता अपने लक्ष्यों को हासिल करने में इन संसाधनों के इस्तेमाल में होती

है। इसको नकारे बिना समावेश का व्यापक और नाजुक दृष्टिकोण वस्तु के प्रति अंधभक्ति की अनदेखी करता है। व्यापक दृष्टिकोण में नैतिक समानता मानवीय चिंता में प्रमुख होती है, इसमें लोगों को समान दृष्टि से देखना होता है न कि उन्हें महज अर्थिक समानता तक कम करके आंकने तक। हम सभी की इच्छा होती है कि हमारी सोच और हमारे वांछित कार्य के लिए हमें समान रूप से आदर मिले। लोगों के समान किस्म के भौतिक संसाधन हो सकते हैं फिर भी हर कोई समान नज़रिये से नहीं देखा जाता। इसकी वजह है समाजिक धब्बा या दुनिया के नज़रिये में आई गिरावट। यह गिरावट जीवन के तौर-तरीकों को सूचित

करने के साथ-साथ उनकी पहचान भी तय करती है। हमारा आत्मसम्मान, आत्ममूल्य और आत्मश्रद्धा हमें मिले भौतिक संसाधनों से कहीं अधिक होती है। इसका संबंध संस्कृति और आचार ढांचे से भी है जो हमें संसार के लायक बनने में मदद करता है और हमारी अपनी समझदारी बढ़ाता है।

ये ढांचे धर्मिक और अधर्मिक हो सकते हैं लेकिन दोनों का सांस्कृति और आचार नीति से अंगीभूत संबंध है। सांस्कृतिक और आचार संबंधी ढांचे मानव जीवन में अनिवार्य और अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दूसरी बात, कोई भी ढांचा लोगों के जीवन का परिपूर्ण अर्थ प्रदान नहीं करता। यदि सांस्कृतिक और धर्मिक बहुलवाद को समाप्त करना संभव और वांछित नहीं है तो सूक्ष्म दृष्टि में स्वतंत्रता और समानता की ऐसी अवधारणा की तत्काल आवश्यकता है जो बहुलता के साथ धार्मिक पहचान और नैतिक आचार को ध्यान में रखे।

भारत में विकसित हुए धर्मनिरपेक्षतावाद का मूल नैतिक रूप से प्रतिवाद करने लायक समावेशी समाज से है। ऐसे समाज से जो अन्य बातों के अलावा धार्मिक और धर्म आधारित अलगाव, शोषण और अधिपत्य व्यवस्था से मुक्त हो। यह ज्ञोर देकर कहना होगा कि समावेश के केवल भारतीय



को उस विशेष तरीके से सोचना है जिसमें एक व्यक्ति अपने आप को दूसरे व्यक्ति से जोड़ता है। व्यक्तिपरक रूप में धार्मिक स्वतंत्रता और नागरिकता संबंधी अधिकारों को व्यक्ति की विशेष संपत्ति के रूप में समझा जाता है। गैर-व्यक्तिपरक दृष्टि से इन मूल्यों को समझने का अर्थ शांति और सहिष्णुता को समुदायों के बीच संबंधों के रूप में समझना है, धार्मिक स्वतंत्रता को धार्मिक समुदायों की स्वायत्ता के रूप में समझना है और जीवन को सामूहिक जीवन के रूप में समझना है। इस दृष्टि से नागरिकता संबंधी अधिकारों को समुदाय की सदस्यता के आधार पर अधिकार के रूप में समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि मूल्य आधारित धर्मनिरपेक्ष राज्य अलगाव की उपमा को लेकर एक-दूसरे से भिन्नता रखते हैं, धर्म के साथ संबंधों को लेकर उनकी समझदारी अलग होती है। तीसरे स्तर पर राज्य कानून और सार्वजनिक नीति के स्तर पर सोचते हैं। इस स्तर पर अलगाव को टट्स्थला या दूरी के रूप में समझा जा सकता है। इसके साथ-साथ अलगाव एकत्रफा, पारस्परिक, अवसरवादी या सिद्धांतों पर हो सकता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक धर्मनिरपेक्षतावाद के कम से कम पांच मॉडल हैं।

पहले मॉडल में तीसरे स्तर पर कुछ राज्य कड़ाई से संपर्क ख़त्म करने के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं यानी ये राज्य धर्म और राज्य का पारस्परिक अलगाव चाहते हैं। ऐसे राज्य पूर्ण अलगाव की नीति का पालन करते हैं। इसमें राज्य संबंधी मामलों से धर्म अलग रहता है और धार्मिक मामलों में भी राज्य की कोई दखल नहीं होती। राज्य का धर्म के साथ कोई सकारात्मक संबंध नहीं होता, धार्मिक संस्थानों को अनुदान देने की कोई राज्य नीति नहीं होती और न ही धर्म के साथ राज्य का कोई नकारात्मक संबंध होता है। धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार राज्य को नहीं होता। राज्य के मूल्यों में उल्लंघन की हालत में भी नहीं। इस मॉडल का उदाहरण अमरीकी मॉडल में मिलता है।

अब दूसरे मॉडल की बात। इसमें राज्य पूर्ण अलगाव को ख़ारिज करता है और एक ऐसी नीति अपनाता है जिसमें राज्य से धर्म का एक पक्षीय अलगाव हो। ऐसे राज्यों का धर्म से

अलगाव का मकसद धर्म पर नियंत्रण और धर्म का नियमन करना होता है। कभी-कभार तो यह मकसद धर्म को नष्ट करना भी हो जाता है। राज्य यह नियंत्रण धर्मों की राह में रोड़े अटका कर कर सकते हैं और धर्मों की मदद कर भी। दोनों ही सूरतों में राज्य का मकसद नियंत्रण होता है और नियंत्रण का यह भाव इस विचार से प्रेरित होता है कि धर्म छद्म ज्ञान है, दकियानूसी है, रूढ़िवादी है। राज्य इस विचार से भी प्रेरित होते हैं कि धर्म अंदरुनी तौर पर दमनकारी और वर्ग व्यवस्थावादी है। इस तरह धर्म में हस्तक्षेप को स्वतंत्रता और समानता के आधार पर जायज ठहराया जाता है। ऐसे धर्म निरपेक्ष राज्य निश्चित तौर पर धर्म विरोधी होते हैं। फ्रांस इसका उदाहरण है।

तीसरा मॉडल पश्चिमी यूरोपीय देशों में पाया जाता है। इन राज्यों में पहले और दूसरे स्तर पर वास्तविक अलगाव देखने को मिलता है लेकिन तीसरे स्तर पर यानी कानून और सार्वजनिक नीति के स्तर पर धर्म पर नियंत्रण

भारत में गहरी धार्मिक विविधता की समस्याओं से निपटना सुनिश्चित हुआ है। न केवल धर्म के अंदर बल्कि विभिन्न धर्मों के बीच की समस्याओं से निपटने में भी। इसे हिंदुओं और मुसलमानों तथा अन्य धार्मिक समूहों ने संयुक्त रूप से बनाया है।

करने की जगह राज्य एक ऐसे धर्म को समर्थन देता है जिसका बोलबाला होता है।

चौथा मॉडल व्यक्तिपरक मूल्यों की अनदेखी करता है। यह मॉडल धर्मनिरपेक्षता के विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सामाजिकता के निश्चित तरीकों को सहायता पहुंचाता है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों के बीच शांति और सद्भाव बनाए रखने के लिए राज्य को दूरी बनाए रखनी चाहिए और सभी को समान भाव से देखना चाहिए। इस मॉडल को भारतीय माडल के रूप में समझा जाता है।

किसी तरह का दावा किए बगैर यह कहा जा सकता है कि इस तरह के धर्मनिरपेक्षतावाद महत्वपूर्ण नैतिक आयामों को नज़रअंदाज करते हैं। इस तरह के धर्मनिरपेक्षतावाद धर्म के अंदर या धर्म के बाहर या फिर दोनों तरह के आधिपत्य की इजाजत देते हैं। अमरीका

में धार्मिक रूप से कमज़ोर समूहों की मदद करना कठिन है। वहां अल्पसंख्यक धर्मों का निरादर करने से रोकना भी मुश्किल है। उदाहरण के लिए ओबामा की असमर्थता को देखें। वह सार्वजनिक रूप से कुरान को जलाने की घटना को नहीं रोक पाए। फ्रांस में अप्रत्यक्ष रूप से और यूरोप में प्रत्यक्ष तौर पर धार्मिक भेदभाव या अलगाव को रोकना कठिन है। फ्रांस में सिर पर रुमाल या वस्त्र रखने पर पाबंदी उदाहरण है। यूरोप में गंभीर धार्मिक विविधता की नयी वास्तविकता ने यूरोपीय राज्यों के पक्षपात-पूर्वग्रह को नयी राहत का शक्ति दिया है। सभी बदलावों के बावजूद यूरोपीय राज्य किसी न किसी रूप में ईसाइयत को वरीयता देना जारी रखे हुए हैं। ये राज्य सार्वजनिक तौर पर ईसाई स्कूलों का धन पोषण करते हैं, गिरिजाघरों की संपत्ति और पुरोहितों के वेतन की देखभाल करते हैं। ये राज्य कब्रिस्तानों पर गिरिजाघरों के नियंत्रण को बढ़ावा देते हैं और पुरोहितों के प्रशिक्षण में मदद भी देते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म के क्षेत्र में कोई निष्पक्षता नहीं है और औपचारिक समानता के बावजूद बाकी समाज पर इस तरह के पक्षपात का दूरगामी प्रभाव पड़ रहा है।

इस तरह के पक्षपात से मुसलमान भी तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं। उदाहरणस्वरूप ब्रिटेन में प्राइमरी स्कूलों के एक तिहाई बच्चों की शिक्षा धार्मिक समुदायों द्वारा दी जाती है लेकिन जब ये धार्मिक (मुस्लिम) समुदाय राज्य द्वारा वित्तीय मदद का आवेदन करते हैं तो उन्हें लगातार ख़ारिज कर दिया जाता है। विट बदर की सूचनानुसार केवल पांच मुस्लिम स्कूल हैं जबकि 2,000 स्कूलों का संचालन रोमन कैथोलिक करते हैं और इंलैंड के गिरिजाघर 4,700 स्कूल चलाते हैं। इस तरह की समस्या अन्य यूरोपीय देशों में भी है। जर्मनी और फ्रांस दोनों में मुस्लिमों की ओर से संचालित किसी भी स्कूल को राजसहायता (सब्सिडी) नहीं दी जाती। फ्रांस में सिर पर रुमाल या कपड़ा रखने, जर्मनी और इटली में मस्जिद बनाने, जर्मनी में रिवाज के रूप में पशु वध करने में भेदभाव और मुसलमानों के लिए कब्रिस्तान के लिए जमीन देने के मसले आदि अनेक पश्चिमी यूरोपीय देशों के उदाहरण हैं। हाल के समय में अनेक

पश्चिमी समाजों में इस्लामी फोबिया घर कर गई है। डेनार्क में कार्टून विवाद और स्विटजरलैंड में मीनार से जुड़ा मसला उदाहरण हैं। ऐसे में यह संभव है कि मुस्लिम समुदाय के सदस्य होने के नाते मुसलमानों को लाभ से दूर रखने की समस्या का सामना करना पड़े।

चौथे मॉडल पर भारत में कभी-कभार चर्चा की जाती है। यह मॉडल संस्थागत धार्मिक आधिपत्य की धर्मों से बाहर के आयामों के प्रति संवेदी नहीं है। इसलिए इन मॉडलों के भी विकल्प हैं।

भारतीय संवैधानिक धर्मनिरपेक्षतावाद

धर्मनिरपेक्षतावाद का एक और मॉडल है। यह विशेष रूप से पश्चिम में सृजित मॉडल नहीं है। यह मॉडल गंभीर दृष्टि से धार्मिक रूप से विविध समाजों की ज़रूरतों को पूरा करता है और स्वतंत्रता के सिद्धांतों में भी योकीन रखता है, उनका परिपालन करता है। यह मॉडल है समानता और भाईचारे का मॉडल, यह भारतीय मॉडल है। भारत में गहरी धार्मिक विविधता से समस्याओं से निपटना सुनिश्चित हुआ है। न केवल धर्म के अंदर बल्कि विभिन्न धर्मों के बीच की समस्याओं से निपटने में भी। यह मॉडल किसी सिद्धांत के रूप में विकसित नहीं है। इस अवधारणा को संयुक्त रूप से हिंदुओं और मुसलमानों तथा उपमहाद्वीप के अन्य धार्मिक समूहों ने बनाया है। यह मॉडल भारत में अंतर समुदाय के व्यवहारों में पाया जा सकता है, देश के संविधान में पाया जा सकता है और इसकी जायज व्याख्या भी की जा सकती है। भारत में गहरी धार्मिक विविधता से धारणा के स्तर पर समस्याओं से निपटना सुनिश्चित हुआ है, न केवल धर्म के भीतर बल्कि विभिन्न धर्मों के बीच भी। इसे ब्लूप्रिंट के रूप में न रखते हुए भी पश्चिमी देश भारतीय अवधारणा की समीक्षा कर सकते हैं या इससे सबक ले सकते हैं। भारतीय मॉडल की सात विशेषताएं व्यापक विचार-विमर्श के लायक हैं।

दुनिया में अनेक प्रकार के धर्मनिरपेक्षतावाद की परिकल्पना की गई है। फ्रांसीसी, अमरीकी और यूरोपीय धर्मनिरपेक्षतावाद, लेकिन इनमें से कोई भी गहरी धार्मिक विविधता की वर्तमान स्थितियों में सहायक नहीं है।

- विभिन्न तरह के धर्म कोई अतिरिक्त धर्म नहीं है, इसे बाद में भी समाहित नहीं किया गया है बल्कि ये आधार के हिस्से हैं।

- यह धर्मों की लोक विशेषताओं के प्रति पूरी तरह प्रतिकूल नहीं है। हालांकि राज्य की पहचान किसी खास वर्ग या धर्म से नहीं होती लेकिन अधिकारिक रूप से धार्मिक समुदायों को सार्वजनिक मान्यता मिली हुई है।

- विभिन्न मूल्यों (स्वतंत्रता और समानता) के प्रति इसकी प्रतिबद्धता है। स्वतंत्रता और समानता को व्यक्तियों से जोड़कर नहीं देखा गया है बल्कि इसकी व्याख्या व्यापक रूप से धार्मिक समुदायों की तुलनात्मक स्वायतता, समाज में दर्जे की समानता तथा समुदायों के बीच शांति और सहिष्णुता के मूल्यों के रूप में हुई है। यह मॉडल धर्मों के अंदर हिंसा की क्षमता के प्रति भी संवेदी है।

- यह मॉडल राज्य और धर्म के बीच कोई दोनों खड़ी नहीं करता। सीमाएं हैं लेकिन ये सीमाएं बहुत बड़ी हैं। यह राज्य को धर्म पर नियंत्रण और धर्म को नष्ट किए बिना उन्हें मदद करने के लिए हस्तक्षेप करने की अनुमति देता है। राज्य की कई भूमिकाएं हैं। इनमें धार्मिक समुदायों के शैक्षिक संस्थानों को गैर-वरीयता आधार पर अनुदान सहायता देना, एक समुदाय के सदस्यों या अन्य समुदाय के सदस्यों को समान प्रतिष्ठा और दर्जा देने में सामाजिक-धर्मिक संस्थानों की मनाही जैसे मामलों में हस्तक्षेप करना शामिल है। सक्षेप में इस मॉडल का अर्थ धर्म से पूरी तरह अलगाव या तटस्थिता नहीं बल्कि सैद्धांतिक दूरी बनाए रखना है।

- यह मॉडल दर्शाता है कि हमें धर्म के प्रति सक्रिय शत्रुता या निष्क्रिय उदासीनता या अनादरपूर्ण शत्रुता या सम्मानजनक विवरिति में से किसी तरह का चुनाव नहीं करना है।

- भारत का संवैधानिक धर्मनिरपेक्षतावाद धार्मिक मामलों में लोकतांत्रिक नीतियों की परिधि में और अदालती विवेक के जरिये निर्णय की इजाजत देता है।

- विभिन्न मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता और सैद्धांतिक दूरी का अर्थ है कि राज्य विभिन्न

धार्मिक रूप से विविधता वाले समाज आधिपत्य की संभावनाओं से भरे होते हैं। यह आधिपत्य समाज के अंदर से और समाज के बाहर से होता है और इसके प्रतिफल होते हैं भेदभाव, हाशिये पर रखना, शोषण, अलगाव और दोबारा वर्ग व्यवस्था स्थापित करना।

और समान रूप से महत्वपूर्ण मूल्यों में संतुलन बनाने का प्रयास करता है। यह राज्य के धार्मिक आदर्श को परिपेक्ष्यपूर्ण, नैतिक दृष्टि से संवेदी और राजनीतिक रूप से वार्ता आधारित व्यवस्था के रूप में दिखाता है न कि किसी ऐसे वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में जिसे विचारकों और राजनीतिक एजेंटों ने जावूगारी के रूप में बुना हो।

भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद के मुताबिक राज्य सैद्धांतिक रूप से सभी सार्वजनिक और निजी, व्यक्तिपरक और समुदायपरक धार्मिक संस्थानों से दूरी रखता है। राज्य यह शांति, स्वतंत्रता, सम्मान और समानता के मूल्यों की खातिर करता है। इस तरह भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद विभिन्न समूहों और विभिन्न मूल्यों के बीच नैतिक रूप से संवेदी वार्ता आधारित समाधान है।

इस संवैधानिक धर्मनिरपेक्षतावाद को न तो भारत में और न ही पश्चिम में पूरी तरह समझा गया है और न ही इसका पूरा समर्थन किया गया है। धर्मनिरपेक्षतावाद की इस दोषपूर्ण समझदारी के कारण ही इसे छोड़ दिया गया है या इसकी कम प्रशंसा हुई है। पश्चिमी राज्यों को ठीक उसी तरह अपने धर्मनिरपेक्ष व्यवहारों को समझने में सुधार की ज़रूरत है जिस तरह पश्चिमी धर्मनिरपेक्षतावाद को सैद्धांतिक स्तर पर स्वयं को समझने की आवश्यकता है। पश्चिमी धर्मनिरपेक्षतावाद के लिए अपने इतिहास और समय के क्रम में विकसित मॉडल के प्रति चिपक कर रहने से अधिक बेहतर यह है कि वे मौलिक भारतीय संस्करण से सीख लें। धर्मनिरपेक्षतावाद के स्वयंभू समर्थक और इसके कुछ दिग्भ्रामित विरोधी मौलिक भारतीय धर्मनिरपेक्षता की समीक्षा कर सबक ले सकते हैं। □

(लेखक सीएसडीएस में सीनियर फेलो हैं।
ई-मेल : rbgargav4@gmail.com)

कॉपीराइट : कितना सही कितना गलत

• प्राणेश प्रकाश

आपने कभी किसी धुन पर सीटी बजाई है! या फिर तेज़ आवाज़ में कोई गीत गुनगुनाया है? किसी चुटकुले को फिर से दोहराया है कभी आपने? किसी ईमेल का जवाब देते वक्त अपने आप आपके मैसेज बॉक्स में जुड़ जाने वाली उस ईमेल की कॉपी को क्या आप डीलीट करते हैं? कभी आपने किसी किताब के पन्नों की फोटोकॉपी कराई है? अपने किसी प्रेजेंटेशन में आपने कभी इंटरनेट से फोटो उठाकर इस्तेमाल किया है? काम करते वक्त इंटरनेट सर्चिंग की है? किसी वेबसाइट पर आपने शेयर बटन का इस्तेमाल किया है या फिर कभी टिक्टर पर दोबारा से टिक्टर किया है? और 2012 से पहले क्या कभी आपने सर्च इंजन का इस्तेमाल किया है?

ऊपर दी गई तमाम बातों से अगर आप जुड़े रहे हैं, तो आप सजा के हक्कदार हो सकते हैं। अगर आपने उपरोक्त में से कुछ भी कॉपीराइट के मालिक की अनुमति के बिना किया है, तो आप भारतीय कॉपीराइट अधिनियम के उल्लंघन के मामले में फंस सकते हैं। ऊपर दिए गए उदाहरणों के अनुसार अगर आप किसी भी तरह से किसी दस्तावेज़ की कॉपी कर रहे हैं, तो कानून की नज़र में आप कॉपराइट के मालिक के अधिकारों का हनन करते हैं। आपको यह जानकर हैरानी होगी कि 2012 में हुए एक संशोधन के बाद गूगल और याहू जैसे सर्च इंजन से विषय-वस्तु के इस्तेमाल को कानूनी मान्यता दी गई है।



किसी सामग्री के कॉपीराइट की आदर्श अवधि आर्थिक सिद्धांत के अनुसार कम से कम उतनी होनी चाहिए, जिससे रचयिता को उसकी लागत वापस मिल सके। लेखक की भावी पीढ़ियों को उसके कार्य का लाभ दिया जाना वास्तव में प्रोत्साहन तंत्र के खिलाफ़ है क्योंकि कॉपीराइट कानून के तहत इसका लाभ लेखक को पहले ही मिल चुका होता है।

कॉपीराइट के संबंध में आम धारणा
कॉपीराइट बौद्धिक संपदा अधिकार के विभिन्न रूपों का एक हिस्सा है। कॉपीराइट के अलग-अलग सिद्धांतों के बीच इसे मुख्य तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में उन देशों को शामिल किया जा सकता है, जहां कॉपीराइट का इस्तेमाल

समाज की भलाई के लिए होता है। वहीं दूसरी श्रेणी में सिफ़्र लेखक या रचयिता को फायदा होता है। दूसरी श्रेणी की दो अन्य उप श्रेणियां भी होती हैं। पहली उप श्रेणी में ऐसे लोग शामिल हैं, जो नैसर्गिक न्याय आधारित विचारों के पक्षधर हैं और मानते हैं कि लेखक को फायदा मिलना चाहिए। दूसरी उपश्रेणी में शामिल लोगों के मुताबिक लेखक को उसके रचनाकर्म के लिए प्रोत्साहन दिया जाना ज़रूरी है। रचनाकर्म के लिए प्रोत्साहन तभी अपरिहार्य होता है, जब रचना अपने रचियता से भी अधिक मूल्यवान हो। रचनाकर्म की अपनी एक महत्ता है क्योंकि इससे सीधे तौर पर समाज लाभांति होता है। इसलिए समाज नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत की अपेक्षा दूसरी उपश्रेणी समाज को लाभांति करने वाले सिद्धांत के ज्यादा क़रीब नज़र आती है।

संयुक्त राज्य अमरीका के कॉपीराइट कानून में दर्ज वर्डिंग ऑफ दि प्रोग्रेसज् धारा स्पष्ट करती है कि कॉपीराइट सार्वजनिक हित के लिए होता है और लेखक को इसके बाद महत्व दिया जाना चाहिए। अमरीकी सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि ‘एकाधिकार से किसी एक पक्ष को विशेष लाभ होता है, इसलिए कांग्रेस को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे न तो किसी को असीमित अधिकार मिलें और न ही निजी तौर पर किसी को विशेष फायदा पहुंचता हो। इसके स्थान पर सीमित अनुदान एक माध्यम हो सकता है, जिससे महत्वपूर्ण

सार्वजनिक हितों की पूर्ति की जा सकती है। लेखकों एवं खोजकर्ताओं की रचनात्मक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रोत्साहन का प्रावधान होना चाहिए। इसी तरह आम लोगों को भी रचयिता के बौद्धिक उत्पाद के इस्तेमाल की छूट एक तय समय-सीमा के बाद होनी चाहिए।'

कॉपीराइट से जुड़े आर्थिक सिद्धांतों के मुताबिक यह एक तरह का प्रोत्साहन तंत्र है, जिसे रचयिता को प्रोत्साहित करने के लिए बनाया गया है, ताकि इससे वह अपने उत्पाद का मूल्य प्राप्त कर सके और कॉपीराइट कानून द्वारा दिए गए अधिकार के तहत इससे लाभ हासिल कर सके। इस तरह आज जो हम कॉपीराइट की लंबी अवधि देख रहे हैं, इसमें बदलाव किया जा सकता है। प्रोत्साहन आधारित मॉडल की बजाय पुरस्कार आधारित कॉपीराइट का मॉडल इसका बेहतर विकल्प बन सकता है।

कॉपीराइट से संबंधित नैसर्जिक अधिकार सिद्धांत में बौद्धिक संपदा को लेखक के श्रम का प्रतिफल माना जाता है। इसलिए उस बौद्धिक संपदा पर लेखक के पूर्ण नियंत्रण की वकालत की जाती है। बौद्धिक संपदा से जुड़े नैसर्जिक अधिकार के सिद्धांत में कई समस्याएं भी हैं। हम देखते हैं कि कॉपीराइट का फायदा लेखक से ज्यादा प्रकाशक को मिलता है। कॉपीराइट अधिनियम की धारा 17 में शामिल 'वर्क फॉर हायर' सिद्धांत के अनुसार लेखक की बजाय नियोक्ता को कॉपीराइट का स्वामी माना जाना चाहिए। इससे नैसर्जिक अधिकार सिद्धांत में स्पष्ट तौर पर एक विरोधाभास खड़ा हो जाता है।

प्रकाशन एक व्यवसाय है और दूसरे व्यवसायों की तरह इसमें सभी जोखिम भी जुड़े होने चाहिए। प्रकाशकों के निवेश को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें अलग से अधिकार देने का कोई कारण नहीं बनता, जबकि दूसरे

आपने मेरा एक सेब चुरा लिया, तो मैं अपनी क्षमता के बूते आपसे वह सेब वापस ले सकता हूँ लेकिन ज्ञान के मामले में आप ऐसा नहीं कर सकते। किसी ने आपकी रचना से अगर ज्ञान अर्जित किया है, तो उसे आप वापस लेने का दावा आखिर कैसे कर सकते हैं!

व्यवसायों को इस तरह की सुरक्षा कभी-कभार ही मिल पाती है। वह भी एक तरह की उदारता ही है। समस्या तो मुफ्त में कॉपीराइट का हस्तांतरण करने से खड़ी होती है। वास्तव में ज्ञान को कॉपीराइट का जामा पहनाकर उसे संपदा में तब्दील कर देने से एक बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है।

परंपरागत तौर पर हम जानते हैं कि संपत्ति को उसके मालिक से अलग नहीं किया जा सकता लेकिन ज्ञान के मामले में ऐसा नहीं है। ज्ञान किसी की संपत्ति नहीं हो सकती। इस पर तो सभी का बराबर अधिकार होना चाहिए। अगर आपको पता है कि मैंने कोई रचना तैयार की है, तो उस रचना में निहित ज्ञान से मैं आपको दूर नहीं रख सकता। इस बात को कुछ इस तरह समझ सकते हैं। मान

इस कानून का वर्तमान स्वरूप बहुत जल्दबाजी में तैयार किया गया है, जोकि एक ऐतिहासिक दुर्घटना से कम नहीं है। विकासशील देशों के परिवेश में जैसे औपनिवेशिक काल की चीज़ों को थोप दिया गया है। औपनिवेशिक चीज़ों का भारतीय परिवेश के संदर्भ में बहुत मूल्य नहीं रह जाता।

दिया जाए, तो भी आप बोल सकते हैं। दूसरी ओर अगर मेरे विचारों या अभिव्यक्ति को बाधित किया जाता है, तो इसे अभिव्यक्ति की आजादी नहीं कहा जाएगा।

एक ढांचे में सब कुछ फिट नहीं हो सकता

यह कहना आसान होता है कि कॉपीराइट कानून में शामिल तमाम चीज़ों के लिए यह सही नहीं है। बदलते वक्त और आधुनिक दौर में नयेपन की ज़रूरत को देखते हुए कॉपीराइट कानून के मामले में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। इसे व्यापार के मुद्दे की तरह भी देख सकते हैं, जिसे विश्व व्यापार संगठन की ओर से व्यवसाय आधारित बौद्धिक संपदा अधिकार समझौते के तहत हम पर थोप दिया गया है।

साहित्य, दृश्य कला, संगीतमय धुनें और गीत समेत अन्य रचनाकर्म के मामलों में कॉपीराइट एक पूरी तरह से व्यवस्थित योजना नहीं है। एक ओर यह कलाकार को अधिकार देता है, गानों और फ़िल्मों के मामले में यह निर्माता को अधिकार देता है। इस विभेद का कानूनी कारण आखिर क्या है! देखा जाए तो कोई विभेद नहीं है, बस यह ऐतिहासिक रूप से चला आ रहा है। एक समय में कॉपीराइट कानून के दायरे में कुछ निर्धारित कॉपियां आती थी। इसलिए किसी कार्य के रूपांतर को गलत नहीं माना जाता था। बल्कि इसे एक नया कार्य माना जाता था क्योंकि अच्छा रूपांतरण करने के लिए भी एक बेहतर कलात्मक अभिव्यक्ति की ज़रूरत होती है।

हालांकि अब भी हैरी पॉटर पर आधारित एंसाइक्लोपीडिया बनाना लेखक के विशेष अधिकारों का उल्लंघन माना जाएगा। एक समय में फोटोग्राफ़िस को मशीनी पुनरुत्पाद मानकर इसे कॉपीराइट के दायरे में नहीं रखा गया था। इसे रचनात्मक कार्य नहीं माना जाता



लीजिए कॉपीराइट कानून के मुक्त अभिव्यक्ति विश्लेषण को अलग रखकर इस विश्लेषण का प्रभाव भी विपरीत हो सकता है। संपत्ति के मामले में मुक्त अभिव्यक्ति विश्लेषण क्यों लागू नहीं होता, इस पर अक्सर गलत उपमा प्रस्तुत की जाती है। आप मेरे घर के लॉन में अपनी अभिव्यक्ति की आजादी का इस्तेमाल कर सकते हैं लेकिन राज्य मुझे इस बात का पूरा अधिकार देता है कि आपकी अभिव्यक्ति की आजादी को बाधित किए बिना मैं आपको अपने लॉन से बाहर कर सकता हूँ। ऐसे में कहा जा सकता है कि संपत्ति के अधिकार को लागू करने से अभिव्यक्ति की आजादी बाधित नहीं होती। इस उदाहरण से यह भी समझ सकते हैं कि दो अलग-अलग प्रकार की संपत्ति के गुण एक जैसे नहीं हो सकते। अगर आपकी अभिव्यक्ति के स्थान को बदल

अमरीका के राष्ट्रपति बराक ओबामा भी कॉपीराइट कानून का उल्लंघन कर चुके हैं। उन्हें महारानी एलीजावेथ को एक आईपॉड उपहार में दिया, जिसमें वेस्ट साइडस्टोरी और किंग एंड आई जैसे 40 लोकप्रिय गाने भरे हुए थे।

था लेकिन 20वीं सदी में परिस्थितियां बदल गई। आज अगर आप अपने कुत्ते का भी फोटो लेते हैं, तो उस पर आपका कॉपीराइट है। सुप्रीम कोर्ट के एक फ़ैसले के अनुसार कोर्ट निर्णयों में सिफ़्र पैराग्राफ नंबरिंग जोड़ देने भर से उसे रचनात्मक कार्य माना जाएगा और वह कॉपीराइट के दायरे में आ सकता है। एक समय में कॉपीराइट महज 14 साल के लिए होता था लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो लेखक की मृत्यु के बाद कम से कम 50 साल तक कॉपीराइट होता है। करीब एक सदी के बाद इसकी मियाद ख़त्म होती है। एक वक्त ऐसा भी था, जब कॉपीराइट सिफ़्र उन्हीं लोगों को दिया जाता था, जो इसे लेना चाहते थे और इसके लिए आवेदन करते थे लेकिन आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं। कोई भी मूल चीज़ जिसे आपने लिखा है, रिकॉर्ड किया है या फिर किसी और तरीके से तैयार किया है, उस पर आपका कॉपीराइट अधिकार बनता है।

डिजिटल युग में कॉपीराइट

कंप्यूटर पर किसी रचनाकर्म की कॉपी आसानी से की जा सकती है। इसलिए डिजिटल गतिविधियां कॉपीराइट के उल्लंघन के दायरे में आती हैं। आज सब कुछ कॉपीराइट के दायरे में आता है, वह भी लगभग हमेशा के लिए। अमरीका जैसे ताकतवर देश के राष्ट्रपति, जिनके पास कानूनी सलाहकारों की पूरी फौज होती है, वो भी अगर कॉपीराइट कानून के दायरे से नहीं बच पाते, तो आम आदमी भला इससे कैसे बचा रह सकता है।

ऐसे एक दर्जन से भी कम देश हैं, जो नेट आईपी का निर्यात करते हैं। भारत समेत तमाम देश नेट आई का आयात इन्हीं देशों से करते हैं। आईपी की बात करें तो इसमें कॉपीराइट के तहत सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात करने वाले दोनों तरह के लोगों को एकाधिकार मिला हुआ है।

इससे कैसे बचा रह सकता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जो यह बताते हैं कि कॉपीराइट कानून नियंत्रण से बाहर हो रहा है। प्रत्यर्पण को ही लीजिए ऑगस्टो पिनोशेट को प्रत्यर्पित किया गया, चार्ल्स शोभराज को भी प्रत्यर्पित किया जाना था।

अगर बल्डमैपर डॉट ओआरजी पर आप नेट रॉयल्टी के अंतर्वाह को दर्शाने वाले विकृत नक्शे को देखें तो अन्याय की अति को साफ तौर पर समझा जा सकता है। दरअसल, कॉपीराइट मुक्त व्यवसाय में बाधक है। इसीलिए नेल्सन मंडेला की जीवनी दक्षिण अफ्रीका में तो महंगी है, जबकि लंदन में यह कम दाम में मिल जाती है क्योंकि यूके के प्रकाशक ने साउथ अफ्रीका को भारत से यह क्रिताव आयात करने के लिए प्रतिबंधित किया हुआ है। गेटी इमेजिस फॉर्चून के वारिस मार्क गेटी ने एक बार कहा था कि आईपी तो 21वीं सदी में तेल की तरह है।

सरकारी कॉपीराइट

शैक्षणिक समुदाय की ओर से कई बार आहान सुनाई देता है, जिसमें आपन एक्सेस की बात कही जाती है। पब्लिक लाइब्रेरी ऑफ़ साइंस के मुताबिक ओपेन एक्सेस एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें किसी पर किसी कंटेंट या रचना तक पहुंच और उसके इस्तेमाल पर रोकटोक नहीं होगी। आखिर यह ज़रूरी क्यों है? किसी पत्रिका में प्रकाशित लेखों पर ज़्यादातर प्रकाशकों का अधिकार होता है।

अगर कोई उस लेख को पढ़ना चाहता है, तो उसे पाने के लिए क़ीमत चुकानी होगी। अगर कोई उस लेख को इस्तेमाल करना चाहता है, तो प्रकाशक से इसकी इजाजत लेनी होगी और अतिरिक्त शुल्क इसके लिए देना होगा लेकिन बहुत से शोधकर्ताओं को उनके संस्थान से पत्रिका मिल जाती है और वे सोचते हैं कि यह उन्हें मुफ्त में मिल रही है लेकिन ऐसा सोचना गलत है। संस्थानों को अपनी साइट का लाइसेंस लेने के लिए काफी मोलभाव करना पड़ता है, जबकि कंटेंट के दोबारा इस्तेमाल की छूट सीमित होती है। महत्वपूर्ण यह भी है कि लेख के शोधार्थियों को प्रकाशकों की ओर से मानदेय भी नहीं मिलता। बहुत से विकासशील देश तो इस तरह के शोध आधारित प्रकाशनों का ख़र्च भी नहीं बहन कर सकते। यहां तक कि भारत की प्रमुख

अमरीका जैसे ताकतवर देश के राष्ट्रपति, जिनके पास कानूनी सलाहकारों की पूरी फौज होती है, वो भी अगर कॉपीराइट कानून के दायरे से नहीं बच पाते, तो आम आदमी भला इससे कैसे बचा रह सकता है।

शोध एजेंसी कार्डिसिल फॉर साइटिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च ने हाल में कहा कि वैज्ञानिक पत्रिकाओं की क़ीमत उसके माध्यमों से अलग हटकर है। यह बात महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत सरकार क्षेत्र की समस्त रचनाओं पर, चाहे वह कार्यपालिका से जुड़ी हों, न्यायपालिका से या फिर विधानपालिका से, सभी पर कॉपीराइट कानून लागू होता है। उपरोक्त सिद्धांतों में हमने जिन बातों की चर्चा की है, क्या यह कानून उन बातों के विपरीत नहीं जान पड़ता? सरकार कोई लेखक या रचयिता भी नहीं है, जिसके पास उसकी रचनाओं के नैसर्जिक अधिकार होने चाहिए। विभिन्न रिपोर्ट्स, गैजेट इत्यादि जो भारत सरकार तैयार करती है, उस पर कॉपीराइट का भला क्या औचित्य है। यह सब तो सरकार को करना ही होता है। इसी तरह सरकार सांस्कृतिक क्षेत्र की रचनाओं पर किया गया ख़र्च भी व्यवसायिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह तो सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार ही माना जाना चाहिए।

आज जब वक्त बदल चुका है, तो हमें औपनिवेशिक काल के कॉपीराइट कानून के ताज को उतार फेंका चाहिए। सरकार के पास ऐसे बहुत कम क्षेत्र हैं, जहां कॉपीराइट कानून लागू होता है लेकिन सूचना अधिकार अधिनियम के तहत आप कानूनी तौर पर उसे जानने के भी हक़दार हैं उसी दस्तावेज़ को अगर आप इंटरनेट पर सार्वजनिक कर देते हैं तो कॉपीराइट कानून के तहत आपको जेल की हवा खानी पड़ सकती है लेकिन शायद ही कोई अधिकारी ऐसा होने देना चाहेगा।

डब्ल्यूआईपीओ के सभी सदस्यों ने इस बात को महसूस किया कि ज्ञान तक पहुंचने में कॉपीराइट एक बड़ी बाधा है। आज ऐसा लगता है कि नेत्रहीन लेखकों को कॉपीराइट कानून सुरक्षा देने की बजाय उसमें कटौती कर देता है।

कानून की चार उपधाराओं में अपवादों के स्थान पर अगर अपवाद महज एक पंक्ति का होता और उसमें सरकारी काम या प्रकाशन के सार्वजनिक इस्तेमाल और पुनरुत्पादन की छूट होती, तो समस्या अपने आप खत्म हो जाती। डाटा डॉट जीओवी डॉट इन पर चली आ रही अस्पष्टता भी इससे काफी हद तक दूर हो सकती है। डाटा डॉट जीओवी डॉट इन पर केंद्र सरकार सूचनाएं प्रकाशित करती है, जिसका इस्तेमाल सिविल सोसायटी, उद्यमी और दूसरे सरकारी विभाग करते हैं। हालांकि यह स्पष्ट नहीं है कि वे कानूनी तौर पर ऐसा करने के हक़क़दार हैं या नहीं।

हाल में स्टेट्स ऑफ दि वर्ल्ड इंटेलेक्चुअल प्रोपर्टी ऑर्गनाइजेशन ने एक संधि पारित की है, जो नेत्रहीन को लोगों किताबें सुलभ कराती है। इस मौके पर मैंने महसूस किया कि कॉपीराइट सही है या गलत, यह दिखाई नहीं देता लेकिन यह एक ऐसा हथियार है, जिसका पहरा कुछ उन चुनिंदा चीजों पर लगा हुआ है, जिनकी समाज को जरूरत है। कुछ परिस्थितियों में कॉपीराइट को कम किया

अगर कॉपीराइट जनहित को पूरा नहीं करता, तो राज्य को इसमें दखल देना चाहिए और कानून को मानवाधिकार के संरक्षण, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और लेखकों एवं उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में बदल देना चाहिए। करदाताओं के पैसे होने वाली रिसर्च पर क्या सार्वजनिक अधिकार नहीं होना चाहिए? यह सिद्धांत पूरी तरह से अविवादित लगता है।

जा सकता है, लेकिन अपरिहार्य रूप से इसे कम किया जाना चाहिए। यहां तक कि बर्नी कन्वेंशन में चिह्नित किए गए बिंदुओं से अलग हटकर भी ऐसा किया जा सकता है। बर्नी कन्वेंशन की नींव रखने वाले स्विस विधिवेत्ता और राष्ट्रपति नूमा ड्रोज ने इस बात को 1884 में ही महसूस कर लिया था। उन्होंने कहा था कि पूर्ण सुरक्षा की सीमाएं सार्वजनिक हित को ध्यान में रखकर निर्धारित की जानी चाहिए। डब्ल्यूआईपीओ में भारत के प्रतिनिधि देबब्रत साहा ने भी महसूस किया है कि बौद्धिक

संपदा अधिकार को निजी विशेषाधिकार मानने की बजाय इसका इस्तेमाल विस्तृत रूप से सामाजिक-आर्थिक और तकनीकी विकास में होना चाहिए। इसका इस्तेमाल सार्वजनिक हित को बढ़ावा देने के लिए किया जाना चाहिए।

यह समझना होगा कि सूचनात्मक संसाधनों की ओर सिफ़्र बाज़ार ही नज़र गड़ाए नहीं बैठा है, बल्कि जरूरतमंद का भी ध्यान रखना होगा। उपरोक्त पंक्तियों में नेत्रहीनों के संदर्भ में दिए गए उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है। नेत्रहीन किताबों के अकाल से जूझ रहे हैं। कन्वेंशन में देबब्रत साहा ने महसूस कि विकासशील देशों पर ही ट्रिप्स की सबसे ज्यादा मार पड़ रही है और इस तरह की संधि से इसे खत्म किया जा सकता है।

भारत सरकार को भी इस दिशा में पहल करने की जरूरत है। वैज्ञानिक शोध, ऑल इंडिया रेडियो के आर्काइव, प्रसार भारती की फ़िल्मों और करदाताओं के पैसे से होने वाले दूसरे कार्यों पर आम लोगों की पहुंच को आसान बनाने के लिए पार्बिंदियों को खत्म कर देना चाहिए। □

(ई-मेल : pranesh@cis-india.org)

YOJANA WEB- EXCLUSIVES

Yojana announces the launch of a new service named 'Web-Exclusives' for the benefit of its readers under which selected articles would be put up on the website of Yojana : www.yojana.gov.in. Announcement about the articles under the Web-Exclusives section would be carried in the Yojana magazine of the month but these articles would not be carried in the print version of Yojana. We are carrying the following articles under the Web-Exclusives section of Yojana on its website:

1. Problems of Aged in Changing Indian Scenario by Dr. Shakuntala, C. Shettar
2. Ethnic Fratricide and the Autonomous Councils of Assam by Navaneeta Deori
3. Inclusive Planning in Context of Urban Poor by Dr. Ambey Kumar Srivastava
4. State, Democracy and Development: Institutional Perspectives by B. Chandrasekaran

Please send in your comments and suggestions to us on yojanace@gmail.com

अपने लेख हमें ई-मेल करें

आप हमें अपने लेख और पत्र ई-मेल भी कर सकते हैं। ई-मेल करने के लिए कृतिदेव फांट इस्तेमाल करें और वर्ड ओपन फाईल yojanahindi@gmail.com पर भेजें। एक से अधिक लेखकों के नाम केवल विशेष शोध लेखों पर ही दें। जिन रचनाओं के साथ मौलिकता का प्रमाणपत्र संलग्न नहीं होगा वे स्वीकार नहीं की जा सकेंगी। रचना के प्रकाशन के संबंध में किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार अथवा फोन न करें। विशेष अवसरों के लिए लेख तीन माह पूर्व प्राप्त हो जाने चाहिए। रचनाओं के साथ यथासंभव प्रासंगिक चित्र भी भेजें। डाक से भेजे जाने वाले लेखों की एक प्रति सीढ़ी में भी भेजें। वापसी के लिए कृपया टिकट लगा और पता लिखा लिफ़ाफ़ा संलग्न करें।

— संपादक



लोकतंत्र का जयघोष!

● अरविंद मोहन

यह लोकतंत्र के जयघोष का दौर है। एक सदी पहले शुरू हुई लोकतंत्र की लहर अब तानाशाही-राजशाही के अखिरी गढ़ अरब जगत में पहुंच गई है और उसका असर सभी देख रहे हैं। कई लोग इसे बाजार के जयघोष का भी दौर मानते हैं। बाजार के पक्षधरों का मानना है कि बाजार भी लोकतांत्रिक ढंग से चलता है— आर्थिक समेत सभी मामलों में? आप लोगों की पसंद बनकर ही टिकते हैं। ख़राब काम करके, ख़राब उत्पाद लेकर, ख़राब सेवा देकर आप बाजार में नहीं टिक सकते क्योंकि उपभोक्ता ही बादशाह होता है। यह तुलना और तर्क गलत है। असल में मामला एकदम उल्टा है और लोकतंत्र तथा बाजार एक-दूसरे को काटते हैं। आज वे दुनिया को अपने-अपने प्रभाव में लेने की लड़ाई में एक-दूसरे के खिलाफ़ मोर्चा खोले हैं। लोकतंत्र जहां समता की सर्वश्रेष्ठ और उदार व्यवस्था है वहां बाजार लूट, मुनाफ़ा और छल-कपट से दुनिया में छाने और असमानता बढ़ाने का जतन करता है। लोकतंत्र के केंद्र में सबको समान मानने, सबसे समान व्यवहार करने का काम है तो बाजार के लिए मुनाफ़ा और सिर्फ़ मुनाफ़ा ही केंद्रीय तत्व है। दो पैसे की चीज़ को दो हज़ार में बेचना वहां किसी नैतिक संकट का कारण न होकर स्मार्टनेस है।

बाजार का लक्ष्य ब्रांड बिल्डिंग, विज्ञापन और मार्केटिंग के सहरे अपने मुनाफ़े को बढ़ाते जाना है। दुनिया में आज काफ़ी सारे ब्रांड हैं जिनके उत्पाद का एक पीस भी मूल कंपनी में नहीं बनता। कंपनी सिर्फ़ अपना नाम बेचती है, काम कहीं नहीं होता। यह चलन अब उत्पादन से ज्यादा सेवा क्षेत्र में आ गया है। विज्ञापन की दुनिया एक समांतर छल रचती है— ग्राहक को फांसकर मुनाफ़ा कराने के लिए। ग्राहक को सूचना देना, सचेत करना और जागरूक बनाना उसका काम नहीं रह गया है। आज के वैश्विक संकट की जड़ में इन्हीं प्रवृत्तियों का प्रबल होना मुख्य वज़ह है। और अफ़सोस की बात है कि वैश्विक मंदी

से निपटने और अमरीकी संकट के समाधान के समय कहीं भी इन चीज़ों पर न तो चर्चा हुई और ना ही फ़ैसले किए गए। सो बाजार की बात को लोकतंत्र के साथ जोड़ने की ज़रूरत नहीं है। हां, उसकी चुनौती को, ऊपर बताई गई होड़ को याद रखने की ज़रूरत है। अगर बीते पचास-साठ सालों में लोकतंत्र ने एक राजनीतिक दर्शन से लेकर शासन पद्धति के तौर पर लोकप्रियता हासिल की है, अपने हाथ-पांव पसरे हैं तो यही अवधि बाजार के प्रभुत्व और छाने का भी है। आज बाजार का झ़ंडा जितनी बुलंदी से फहरा रहा है वैसा कभी धर्म और कभी राष्ट्र-राज्य का भी लहराया होगा यह भरोसे से कहना मुश्किल



है। हमारे कथित दिग्विजयी शासकों, जिनकी सूची सिकंदर से लेकर नेपोलियन तक आती है, का प्रभाव तो बाजार (और लोकतंत्र भी) वाले इलाके की तुलना में कहीं नहीं ठहरता। भूमंडलीकरण के नाम पर तो बाजार सर्वव्यापी और सर्वभक्षी बनता जा रहा है। दुनिया के सारे प्राकृतिक साधनों, सारी पूँजी, सारे बाजार, सारी श्रम-शक्ति, सारी बौद्धिक गतिविधियों, सारी रचनात्मकता, सारे जीवन (पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों से लेकर मनुष्य के जीवन में भी दख़ल), सारे पर्यावरण को व्यापार और बाजार के दायरे में ले आने का प्रयास किया जा रहा है। इसके लिए ताक़त और धूर्तता अर्थात् साम-दाम-दंड-भेद सबका सहारा लिया जा रहा है। दूसरी ओर लोकतंत्र बिना किसी शोर-शराबे के, बिना किसी डंडे के ज़ोर के धीरे-धीरे सारी दुनिया को अपने रंग में रंगता जा रहा है। और हालत यह हो गई है कि जहां लोकतंत्र नहीं है और धुर तानाशाही है, वे भी अपने को नरम और लोकतांत्रिक बताने के लिए कमर कसे हुए हैं और नगर निकाय या किसी भी निचले स्तर पर लोकतांत्रिक व्यवस्था लागू करके उसको प्रमाण-पत्र की तरह दिखाने में ख़ास दिलचस्पी लेते हैं। बाजार तो अपने को लोकतांत्रिक कहता ही है। ऐसे उदाहरण हैं जहां लोकतांत्रिक ढंग से चुने गए शासक तानाशाह बन गए हों पर तानाशाही, राजशाही, सैनिक शासन से लोकतांत्रिक शासन आने के उदाहरण ज्यादा हैं। यही कारण है कि जहां सन 1900 में अकेले न्यूज़ीलैंड में सार्वभौम वयस्क मताधिकार से सरकार चुनने की व्यवस्था थी (वह भी बहुत पुरानी नहीं थी) वहीं 2010 में 149 देशों में लोकतांत्रिक सरकारें काम कर रही थीं। और आज शायद ही कोई देश होगा जिसे किसी न किसी स्तर पर या किसी दौर में लोकतंत्र का अनुभव न हुआ हो। जहां राजशाही थी या है (जैसे इंग्लैंड और जापान) वहां भी काफी या लगभग पूरा कामकाज लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के हाथ में आ गया है। पाकिस्तान जैसे मुल्क भी कई हैं जहां फौजी हुक्मरान बार-बार शासन अपने हाथ में लेते हैं और बार-बार लोग उठकर उनसे शासन छीन लेते हैं।

अमरीका की तरह के देशों ने, जहां खुद भी सन 1965 तक सार्वभौम वयस्क मताधिकर की व्यवस्था न थी, खुद को लोकतंत्र का

चौंपियन मानकर काम करना शुरू किया और कम्युनिस्ट क्रांति की तरह लोकतंत्र को भी 'एक्सपोर्ट' या 'इम्प्लांट' करने का प्रयास किया। अमरीका यह धंधा एक जमाने में कम्युनिज्म के विरोध के नाम पर कर रहा था। इसमें हथियार देने से लेकर सीआईए की मदद पहुँचाना तक शामिल था। उसकी इन कोशिशों ने लोकतंत्र को मदद की या नुकसान पहुँचाया यह कहना मुश्किल है। आज भी अरब के सभी लोकतंत्र समर्थक अमरीका की तरफ मुँह किए होते हैं और ज्यादातर तानाशाह भी अमरीका परस्त ही रहे हैं। कई बार उन आंदोलनों में भी अमरीका विरोधी स्वर साफ सुनाई देता है। अमरीकी प्रयासों से लोकतंत्र को मदद वाला सवाल अगर अभी भी अस्पष्ट है तो यह साफ दिख रहा है कि उसकी इन कोशिशों से बाजार और कथित भूमंडलीकरण अभियान को ज़रूर मदद मिली है। अमरीका को लोकतंत्र

भारत में आजादी की लड़ाई और संविधान निर्माण के बाद लोकतंत्र को ज़िंदा रखने और प्रभावी बनाने का काम ऐसे समूहों ने किया है जो लोकतंत्र के महत्व को कम न भी आंकते हों पर जिनका लक्ष्य कुछ और हासिल करना था।

की जितनी चिंता नहीं है उससे ज्यादा दुनिया का थानेदार बनने की है, ऐसा थानेदार जो अमरीकी व्यावसायिक हितों को हर तरह से आगे बढ़ाने में सक्षम हो। वह इराक, ईरान, अफगानिस्तान समेत उन सभी देशों में लोकतंत्र चाहता है जो उसके साम्राज्यवादी मंसूबों के शिकार रहे हैं। वियतनाम समेत अनेक जगहों पर उसकी अच्छी-खासी फजीहत भी हुई पर वह अपने 'मिशन' से बाज नहीं आ रहा है। अगर अमरीका और उसका पिछलगु बने ब्रिटेन जैसों को, जिसका अभी 50-60 साल पहले तक आधी दुनिया पर राज चलता था, भ्रम हो कि उनके प्रयासों से लोकतंत्र फैल सकता है या वे लोकतंत्र का निर्यात कर सकते हैं तो उनका भ्रम उनको मुबारक लेकिन आज अगर दुनिया के लगभग 150 देश लोकतांत्रिक देश अपनी सरकार चुन रहे हैं, बदल रहे हैं तो निश्चित रूप से यह लोकतंत्र के अपने गुण के चलते ही है। अगर इसमें प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन चलता है तब भी वे प्रतिनिधि अपनी जिम्मेवारी से नहीं बच सकते

क्योंकि एक निश्चित अवधि के बाद या पहले भी उनको फिर से लोगों के पास जनादेश लेने जाना होता है। अच्छा-बुरा प्रतिनिधि चुनने का लाभ-घाटा लोगों को प्रत्यक्ष होता है इसलिए चुनाव में लोग अपनी जिम्मेवारी से नहीं बच सकते। आज की सूचना क्रांति से बाजार भी चिपक गया है। आज हर तरफ से, हर चीज़ के बारे में सूचना मिल जाती है—इसलिए हर आदमी फैसलों के मामले में पहले से ज्यादा सचेत और चौकस है। लोकतंत्र में मनमान फैसला नहीं होता। राय-विचार, बहस इसका अभिन अंग है इसलिए फैसले बेहतर होते हैं और यही बहस, यही चर्चा भिन्न-भिन्न विचारों और सोच के बीच पुल का काम करते हैं। यहां आम आदमी हो या उसका प्रतिनिधि, सबका व्यक्ति के रूप में, समान नागरिक के रूप सम्मान बनता है। संभवतः लोकतंत्र का सबसे बड़ा गुण अपनी गलतियां सुधार लेने की क्षमता है। ये गुण किसी अमरीका, किसी बुश, योनी ब्लेयर या ओबामा की दया से नहीं आया है।

हम अपना सौभाग्य ही मानेंगे कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन ने जैसे ही सही अर्थों में राष्ट्रीय रूप लिया उसके लिए भविष्य के भारत की तस्वीर का ख़ाका एकदम स्पष्ट था। इसमें सार्वभौम वयस्क मताधिकार की बात 1920 के दशक से ही स्वीकृत होने लगी थी। तब दुनिया के शायद ही किसी देश में अश्वेतों और औरतों को वोटिंग का अधिकार था। जब हमारे मुल्क का संविधान बना तब सबको मतदान का अधिकार हो या छुआछूत को गैर-कानूनी बनाना, सबको मौलिक अधिकार देना हो या सर्व धर्म सम्भाव जैसी व्यवस्थाओं पर न तो ज्यादा बहस हुई न किचकिच और मज़ेदार बात यह है कि आज साठ साल बाद भी न सिफ़र सर्वभौम वयस्क मताधिकार को लोकतंत्र की बुनियाद माना जाता है बल्कि संसदीय शासन-व्यवस्था और सर्वाधिक मतों से जीत की प्रणाली को सबसे अच्छा माना जाता है। राष्ट्रपति शासन वाली व्यवस्था, एक स्तरीय शासन प्रणाली और आनुपातिक प्रणाली को विविधताओं भेरे समाजों वाले देश के लिए कम उपयुक्त या दोषपूर्ण माना जाता है। हमारे चुनाव आयोग, हमारी पार्टियों को जितनी आजादी है वैसा भी बहुत कम जगहों पर है और हम लोगों ने भी खुद को अपने पुरखों की उम्मीद पर

खरा साबित किया है। भारत आज दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश ही नहीं आदर्श लोकतंत्र का भी उदाहरण माना जाता है। दुनिया में बहुत कम देश हैं जहां लोकतंत्र पर कभी गंभीर आंच नहीं आई। आपातकाल का अनुभव हमारे यहां भी है पर तब भी शासन की कोई और व्यवस्था की कभी चर्चा भी नहीं हुई थी और पहला अवसर ही देखकर इंदिरा गांधी ने खुद से नये चुनाव कराने की पेशकश की थी। यहां अभिव्यक्ति की आजादी और मौलिक अधिकारों का रिकार्ड भी काफी अच्छा है और इन सबके ऊपर यह हुआ है कि जैसे-जैसे हमारा लोकतंत्र जवान हुआ है इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई है— बोट देने वालों का प्रतिशत और स्वरूप बदलता गया है। सबसे कमज़ोर लोगों, सबसे ग़रीब लोगों, सबसे पिछड़े इलाज़ों के लोगों, औरतों, दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों का बोट प्रतिशत बढ़ता गया है। विकसित देशों के लोकतंत्र में यह हुआ है कि पढ़े-लिखे और पैसे वाले तो बोट देने निकलते हैं लेकिन कमज़ोर, बेरोज़गार और ग़रीब लोग मतदान से दूर हो रहे हैं क्योंकि उनको लगता है कि उनकी समस्याओं का निदान लोकतांत्रिक व्यवस्था नहीं निकाल पा रही है। अपने यहां लोकतंत्र के मार्फत अपनी समस्याओं का निदान ढूँढ़ने वालों का प्रतिशत बढ़ता गया है। पंजाब की, जम्मू-कश्मीर की, असम की राजनैतिक समस्याओं का समाधान लोकतंत्र ने किया है। लोकतंत्र ने ही सत्ता के सारे पुराने समीकरणों को पलटने का काम एकदम शार्तिपूर्ण ढंग से कर दिया है— संसद और विधान सभाओं के स्वरूप, सांसदों-विधायिकों की सामाजिक, सांस्कृतिक और अकादमिक पृष्ठभूमि, जिस किसी भी हिसाब से नज़र डालें, चीजें एकदम बदल गई हैं। दक्षिण भारत में यह बदलाव आजादी के तत्काल बाद से दिखने लगा था, अन्य क्षेत्रों में यह काम पिछले 25-30 वर्षों में हुआ है। सिफ़्र सत्ता के समीकरण ही नहीं बदले हैं सभी कमज़ोर तबकों को जुबान मिली है। अभी तक शांत पढ़े रहे और अपने संसाधनों की लूट, अपमान, ग़रीबी और विस्थापन जैसे हर कष्ट को झेलने वाले आदिवासी भी अब जगह-जगह लड़ने निकले हैं और सबसे बड़े बदलाव की उम्मीद जगाते हैं। ओडिसा, पश्चिम बंगाल, झारखण्ड,

मध्य प्रदेश और केरल समेत अनेक जगहों पर उनका संघर्ष जल, जंगल और ज़मीन के सवाल पर चल रहा है और यह भारत में कुछ अद्भूत हुआ है कि आजादी की लड़ाई और संविधान निर्माण के बाद लोकतंत्र को ज़िंदा रखने और प्रभावी बनाने का काम ऐसे समूहों ने किया है जो लोकतंत्र के महत्व को कम न भी आंकते हों पर जिनका लक्ष्य कुछ और हासिल करना था।

सच्चिदानन्द सिन्हा जैसे विद्वानों का मानना है कि समाजवादी आंदोलन मुल्क में समाजवाद लाने में तो सफल नहीं हुआ पर वह लोकतंत्र को ज़िंदा रखने और जीवंत बनाने में ज़रूर सफल रहा। जब संविधान बन गया तब सरकार, संसद और कांग्रेस पार्टी, तीनों जगह नेहरू जी को चुनौती देना असंभव बन गया। उनकी बहन और संयुक्त राष्ट्र में हमारी पहली प्रतिनिधि विजयालक्ष्मी पंडित के इस

जिन लोगों को लोकतंत्र ने सबसे ज्यादा लाभ दिया है उनका आचरण लोकतंत्र की कसौटी पर पूरा खरा नहीं दिखता। जिन्हें लोकतंत्र ने झोपड़ी से उठाकर महल में पहुंचा दिया उनका व्यवहार किसी राजा-महाराजा से कम नहीं है।

कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मेरे भाई चाहते तो तानाशाह बन सकते थे। उन्हीं दिनों आजाद हुए कई मुल्कों में यह ‘दुर्घटना’ घटी थी। पटेल जैसे बराबर क़द वालों के न रहने और ‘चुनौती’ देने जैसे काम असंभव होने से नेहरू के लिए यही बहुत था कि वे खुद से लोकतांत्रिक आचरण करते और अपने ऊपर कार्टून और टिप्पणियों का बुरा न मानते। तब की कम्युनिस्ट पार्टी के लिए लोकतंत्र तो एक बुर्जुआ व्यवस्था थी और उनका अपना सांगठनिक काम भी घोषित रूप से लोकतंत्र के अनुकूल नहीं होता था। जनसंघ और स्वतंत्र पार्टियों के लिए भी लोकतंत्र कोई बड़ा मूल्य न था। सो चाहे पार्टी के अंदर की बहस हो, असंख्य टूटों का अवसर हो, जनता के बीच छोटे-बड़े सवाल पर आंदोलन छेड़ने का या फिर संसद के अंदर जाकर उसे जीवंत बहसों का मंच बनाने का मामला हो समाजवादियों ने ही नेतृत्व किया। उसका छोटे-से-छोटा कार्यकर्ता भी जरा-सी गड़बड़ देखकर व्यवस्था का प्रश्न उठाने से नहीं चूकता था। आज

भी टुकड़े-टुकड़े में बटे समाजवादी दलित, आदिवासी और पिछड़ा आंदोलनों के प्रमुख लोगों में हैं। ऐसे आंदोलन स्वाभाविक भी हैं। अगर सचमुच की लोकतांत्रिक व्यवस्था लागू हो तो छोटे-से-छोटे समूह की आवाज़ की अनदेखी संभव नहीं है। अगर लोकतंत्र काम कर रहा हो तो अंधेरगर्दी संभव नहीं है। अगर लोकतंत्र हो तो हर समूह अपने हितों के हिसाब से अपेक्षाकृत बेहतर दल या जमात को चुन ही लेता है और लोकतंत्र, खासकर बोट वाले लोकतंत्र की खूबी यह है कि इसमें हर बोट, हर समूह अपने बजन से दोगुना बजन या महत्व रखता है। अगर चुनावी लड़ाई को दो पलड़ों वाला मानें तो एक पलड़े से निकलने वाला बोट उसके बजन को हल्का करता है तो दूसरे पलड़े पर जाकर वह विरोधी के बजन में बृद्धि कर देता है। सो अपना नुकसान और अन्य प्रतिद्वंदी का फायदा देखकर कोई भी पक्ष नहीं चाहता कि उसके पक्ष से कोई दूर्दा। पर इसे विडंबना ही कहेंगे कि जिन लोगों को लोकतंत्र ने सबसे ज्यादा लाभ दिया है उनका आचरण लोकतंत्र की कसौटी पर पूरा खरा नहीं दिखता। जिन्हें लोकतंत्र ने झोपड़ी से उठाकर महल में पहुंचा दिया उनका व्यवहार किसी राजा-महाराजा से कम नहीं है और उनके वैध-अवैध संपत्ति का तो हिसाब ही नहीं है। पार्टियों का अंदरूनी लोकतंत्र कुछ दलों में ही रह गया है और उसमें भी गैर-लोकतांत्रिक कारण प्रभावी रहने लगे हैं— जैसे चंदा जमा करना बहुत बड़ा हुनर हो चुका है। पैसा पार्टियों पर ही क्यों सारे लोकतंत्र पर भारी पड़ने लगा है और कई बार पैसे वाले ‘मोर इक्वल’ दिखाई देते हैं। ग़रीब की भागीदारी मुख्यतः बोट देने जैसी ही रह गई है। पार्टी कोई हो पिछले बीस-पच्चीस साल से आर्थिक नीति समेत ज्यादातर नीतियां एक-सी ही रही हैं। सभी दल एकाध अलग किस्म के मुद्दे पकड़ कर बैठे हैं और बाकी पर मुंह नहीं खोलते। विदेश नीति पर एकता और बात है जबकि हर मामले में अमरीका और पश्चिम का अनुयायी होना एकदम अलग।

इस कमी-बेसी के बीच भी यह कहना ज़रूरी है कि लोकतंत्र का मतलब सिर्फ़ शासन या राजनीति का लोकतंत्र नहीं है। असल में लोकतंत्र समानता के सिद्धांत की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। इसमें हर व्यक्ति का, हर

विचार का, हर स्थिति का आदर करना और सचमुच आखिरी आदमी की परवाह करना शामिल है। व्यक्ति का अपना विचार और व्यवहार भी लोकतंत्र के हिसाब से चलता है। कोई क्लासरूम हो संगठन हर जगह लोकतांत्रिक आचरण वैसा ही लाभकर होता है जैसा समाज या मुल्क के लिए लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था। लोकतंत्र के इस पक्ष को भी गांधी, लोहिया, जयप्रकाश जैसों ने उतना ही महत्व दिया जितना शासन के लोकतांत्रिक स्वरूप को। बल्कि बूढ़े जेपी को 74 आंदोलन के समय छात्र-छात्राओं की बात सुनते और मानते देखना भी एक अनुभव था। वे शायद ही अपना फैसला थोपते हों। लोकतंत्र का मतलब सिर्फ बहुमत का फैसला चलना या बहुमत की 'तानाशाही' नहीं होता इस बात को भी हमारे पुरुषों ने अपने कर्म से भी साबित किया है। लोकतंत्र में अधिक्यक्ति की आजारी और राजनैतिक कर्म की छूट इसलिए ही नहीं दी जाती कि बहुमत का राज चलाना है। इन व्यवस्थाओं के चलते हर व्यक्ति को, हर समूह को अपनी बात आगे बढ़ाने का, अपनी मांग को सामने लाने की सुविधा रहती है। और अगर शासन संवेदनशील हुआ तो एक भी व्यक्ति की सही बात को नज़रअंदाज नहीं कर सकता और एक भी व्यक्ति को कोई बात सही लगे तो वह उस पर अड़ सकता है। फिर यह भी होता है कि शासन या बहुमत हर आदमी या छोटे और पराजित समूह की भावनाओं का ख़्याल रखता है तो हमको-आपको भी बहुमत के फैसले को, भले ही वह हमारी इच्छा के विपरीत हो स्वीकार करने का होश होना चाहिए। हमारे प्राचीन दर्शन में तो सिर्फ़ समाज और परिवार के लोग ही नहीं पशु-पक्षी और पेड़-पौधों तक के परिवार को ही वसुधैव कुटुंबकम कहा गया है।

अपने लोगों में, अपने समाज में लोकतंत्र के इस पक्ष का प्रचार-प्रसार उतना नहीं हुआ है जितना कि शासन वाली व्यवस्था का। पर वह व्यवस्था अगर ठीक से काम करती है, कानून का राज ही बना रहता है और लोग सचेत रहते हैं तो लोकतंत्र खुद से भी काफी कुछ करवा लेता है। हम देख रहे हैं कि कल के राजा-महाराजा आज किस तरह अपनी 'प्रजा' से बोट मांगने के लिए हाथ पसारते हैं। अपने मुल्क में ही इतने आंदोलन, इतनी

मज़बूत लोकतांत्रिक प्रवृत्तियां दिखाई दे रही हैं कि उनसे हमारे समाज का, हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है।

पर इस बदलाव को तब और गति मिलेगी जब इसका स्वरूप ज्यादा लोकतांत्रिक और सर्वहितैषी बनेगा और आज उभरे आंदोलनों में एकता बनेगा। आज हम पिछड़ों में, दलितों में, आदिवासियों में, अल्पसंख्यकों में, औरतों में दमदार आंदोलन देखते हैं। मीडिया का, देसी भाषाओं का विकास हमारा हौसला बढ़ाते हैं। पर हम इन सबके बीच कोई एकता नहीं देखते। अगर पिछड़ा और दलित उभार ही एकजुट हुए तो आर्थिक गुलामी और सांप्रदायिक विभाजन का ख़तरा बिला जाएगा जैसा कि बाबरी विध्वंस के बाद हुए उत्तर प्रदेश चुनाव में बसपा-सपा गठबंधन के चलते हुआ था। माना जाता है कि अगर सिर्फ़ पर्यावरण और जंडर के आंदोलन हाथ

कोई क्लासरूम हो संगठन हर जगह लोकतांत्रिक आचरण वैसा ही लाभकर होता है जैसा समाज या मुल्क के लिए लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था। लोकतंत्र के इस पक्ष को भी गांधी, लोहिया, जयप्रकाश जैसों ने उतना ही महत्व दिया जितना शासन के लोकतांत्रिक स्वरूप को। बल्कि बूढ़े जेपी को 74 आंदोलन के समय छात्र-छात्राओं की बात सुनते और मानते देखना भी एक अनुभव था।

मिला लें तो दुनिया की तस्वीर बदल जाएगी। पर जो भी आंदोलन उभरे हैं उनमें से किसी भी दो में एकता बनती नहीं दिखती। इसके ऊपरी और तात्कालिक कारण क्या हैं इस विवरण में जाने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन यह कहना गलत नहीं होगा कि ख़तरों को ठीक से नहीं समझने और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा करने या सिर्फ़ अपने भर के लिए ज्यादा ताक़त पाने के चक्कर में ऐसा हो रहा है। हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि बाज़ार भी ऐसा करा रहा है। जिन आंदोलनों का अस्तित्व ही लोकतांत्रिक व्यवस्था और समानता की भावना के मज़बूत होने से हुआ है उनको बाज़ार की ताक़त का एहसास ही नहीं है। जिन दो आंदोलनों की चर्चा ऊपर हुई है उसके दो स्वरूपों— दलित और महिला आंदोलन के एक बड़े हिस्से

को तो बाज़ार मुक्तिदाता भी लगता है। आज भारत खाद्य तेल और दलहन के लिए भी विदेशों पर निर्भर हो गया है। भूमंडलीकरण ने हमारी खेती-किसानी और खाद्य सुरक्षा का क्या हाल किया है किसी से छुपा नहीं है। पर काफी सारे मामले ऐसे भी हैं जिनमें बाज़ार प्रत्यक्ष दिखता भी नहीं है— वहां हमें धर्म, जाति, संप्रदाय, लैंगिक और भाषाई दिक्यानुसूती तथा सामंती संस्कारों में दोष नज़र आता है। पार्टियों में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव हो, चुनाव में अपराधियों और पैसे वालों का बोलबाला हो, प्रशासन में हर जगह फ़ैसला जाति और लिंग के आधार पर हो तो दोषी पुराने संस्कार ही दिखेंगे। धर्म, जाति, पैसा, अपराध और काफी हद तक मीडिया की ताक़त का इस्तेमाल लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए हो भी रहा है। पर दिलचस्प बात यह है कि जो पुराने विचार, जो मान्यताएं, जो व्यवहार लोकतंत्र से मेल नहीं खाते, उससे उल्टा आचरण करते हैं, उसकी बुनियाद पर चोट करते हैं, बाज़ार को उनसे दोस्ती बनाने में एक मिनट की देर नहीं लगती।

कथित मीडिया मैनेजमेंट खुली विज्ञापनबाजी का ही दबा-छुपा स्वरूप है। लेकिन सांप्रदायिकता, ब्राह्मणवाद, पुरुषप्रधानता, ग्रामीण देश की पुरानी प्रवृत्तियों से बाज़ार बड़े मज़े से गलबहियां करता है। कुंभ में पौरुष बढ़ाने का टेबलेट (वियग्रा जैसा) हनुमान चालीसा के साथ पैक करके बेचना मार्केटिंग का इमेजिनेटिव तरीका घोषित होता है। वह मज़े से स्वदेशी होने का ढिंढोरा पीटने वाले कई संगठनों को गोद लेता है, सहलाता है, उसके प्रमुख लोगों के विदेश भ्रमण को प्रायोजित करता है। वेलेंटाइन डे, फारदस डे, मदर्स डे ही नहीं तीज, नवरात्रा, दीपावली और ईद उसके प्रिय त्यौहार बन गए हैं। इनमें ख़र्च और उपभोग की अनंत संभावनाएं जो हैं। उसे उपवास और कठोर अनुशासन वाले व्रत नहीं भाते क्योंकि उनमें बाज़ार को कुछ कमाने लायक नहीं मिलता। उसे नशे-नशे में फ़र्क़ करने में हर्ज नहीं लगता। उसे भांग-अफीम में तो फांसी लगाने लायक गलती दिखती है, लेकिन शराब को चरणामृत बनाने में कोई दिक्कत नहीं होती।

(शेष पृष्ठ 41 पर)

समावेशी लोकतंत्रः एक गांधीवादी परिदृश्य

● सुदर्शन अयंगार

समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा का मूल विचार सबसे पहले 1990 के दशक के अंतिम वर्षों में उभरा था और नयी सहस्राब्दी में इस पर व्यापक रूप से राजनीतिक विमर्श प्रारंभ हो चुका था। ग्रीस के राजनीतिक चिंतक टेकिस फोटोपुलुस ने अपनी पुस्तक टुवर्ड्स एन इंक्लूजिव डेमोक्रेसी: दि क्राइसिस ऑफ दि ग्रोथ इकोनॉमी एंड दि नीड फॉर ए न्यू लिबरेटरी प्रोजेक्ट (लंदन और न्यूयार्क में केसल द्वारा प्रकाशित) के माध्यम से 1996 में ही समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा को बखूबी लोगों के सामने रखा था। साम्यवादी देशों और विशेषतः तत्कालीन सोवियत संघ (यूएसएसआर) में 1990 के दशक के प्रारंभ में समाजवाद के धराशायी होने से यह धारणा बनी थी कि यह पूँजीवाद की विजय है। अंग्रेजी भाषा में जिसे 'टीना फैक्टर' कहते हैं, उस तरह की अवधारणा बनी की इसका कोई विकल्प ही नहीं है। फोटोपुलुस का कहना है कि इस तरह की सुखानुभूति और प्रचार ग़लत था।

फोटोपुलुस ने दिखा दिया है कि विश्व ने राज्य को सर्वशक्तिशाली एजेंसी मानने वाली समाजवादी प्रणालियों के ध्वस्त होने से भी कुछ अधिक का रसास्वादन किया था। समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में संपत्ति के सृजन और वितरण हेतु कार्य करने और समाज में राजनीतिक-सामाजिक समानता स्थापित करने पर ज्ञार दिया जाता था। फोटोपुलुस के शब्दों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की चौथाई सदी में सामाजिक लोकतंत्र के जिस रूप कल्याणकारी राज्य की सरकारी प्रतिबद्धता, पूर्ण रोज़गार और समाज के कमज़ोर वर्गों के पक्ष में आय और संपत्ति का पुनर्वितरण का बोलबाला था, वह मर चुका है और उसका स्थान मौजूदा नवउदारवादी आम सहमति

(सुरक्षा प्रणालियां, लचीले श्रम बाज़ार और विशेष सुविधा संपन्न सामाजिक समूहों के पक्ष में आय और संपत्ति का पुनर्वितरण) ने ले लिया है। अतएव समाजवादी और सामाजिक लोकतंत्र के रूप में जो व्यवस्था ध्वस्त हुई है वह वास्तव में केंद्रीकृत समाजवादी व्यवस्था का पतन था। यह एक ऐसी ऐतिहासिक परंपरा थी जिसका उद्देश्य वैधानिक अथवा क्रांतिकारी साधनों से राज्य सत्ता हथियाना था, जोकि क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन के लिए एक आवश्यक शर्त थी।'

बहुत से लोग फोटोपुलुस से सहमत होंगे कि उदार समाजवादी राज्य की अवधारणा ही ऐसी थी कि अपने तमाम अच्छे इरादों के बावजूद वह सभी नागरिकों के बीच राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के समान वितरण की स्थितियां पैदा करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त थी। उदार समाजवादी लोकतंत्र सामाजिक दायरे अर्थात् घरेलू स्तर पर कार्यरत और शैक्षिक संस्थानों में लोकतंत्र की स्थितियां प्रदान करने में विफल सिद्ध हुआ। क्रांतिकारी सामाजिक केंद्रीकृत प्रणाली के पतन के फलस्वरूप एक नयी मुक्त उदारवादी प्रणाली अस्तित्व में आई जो फोटोपुलुस के अनुसार प्रमुख सामाजिक आंदोलनों के संश्लेषण और उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करता था। दो प्रमुख ऐतिहासिक परंपराएं परस्पर विलीन हो गई हैं। एक है लोकतंत्र की राजनीतिक और आर्थिक अंतर्वस्तु जो प्रत्यक्ष लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र में परिवर्तित हो जाती है और दूसरी है पारिस्थितिकीय लोकतंत्र और सामाजिक क्षेत्र लोकतंत्र।

जब समावेशी लोकतंत्र की बात कही जाती है तो यह स्पष्ट है कि लोकतंत्र को खतरा बहुआयामी संकट से आता है। कारण स्पष्ट करते हुए फोटोपुलुस कहते हैं कि मौजूदा

बहुआयामी संकट पारिस्थितिकीय, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक की जड़ें समाज के सभी स्तरों के गैर-लोकतांत्रिक संगठनों में फैली हुई हैं। इसका अर्थ है कि विभिन्न अधिजात वर्गों के हाथों में सत्ता का केंद्रित होना ही संकट के सभी पहलुओं की नींव का पत्थर है। इस संदर्भ में लेखक का कहना है कि एक समावेशी लोकतंत्र का अर्थ है राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के प्रभुत्व की समाप्ति। यहां इस बात पर ध्यान दिया गया है कि यह केवल राजनीतिक और आर्थिक जगत में प्रभुत्व का उन्मूलन ही नहीं है, बल्कि प्राकृतिक विश्व के प्रभुत्व का उन्मूलन भी है।

वैश्विक संदर्भ में देखा जाए तो एक उदार लोकतांत्रिक प्रणाली में किसी भी क़ीमत पर आर्थिक विकास और कुलीन तंत्र द्वारा संचालित बाज़ार से समावेशी लोकतंत्र सुनिश्चित नहीं हो सकेगा। आर्थिक शक्तिसंपन्न व्यक्ति और अधिक अधिकार चाहते हैं और वे ऐसे राजनीतिज्ञों (नेताओं के साथ) सांठांठ में लिप्त हो जाते हैं जो ऊपरी तौर पर तो लोकतांत्रिक प्रणालियों के अधीन काम करते दिखायी देते हैं। वहां भी यह देखा गया है कि राजनीतिक शक्ति कुछ थोड़े से ही पेशेवर और अन्य प्रकार के लोगों के हाथों में निहित होती है जो प्रशासन का प्रतिनिधित्व प्रणाली में पारंपरिक राजनीतिक पैतरेबाजी से संकट को जन्म देते रहते हैं। इस प्रक्रिया में जनता व्यवस्था से दूर हो जाती है और वह भागीदारी निभाने में उत्साह नहीं दिखाती। तब केंद्रीभूत राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों वाले लोगों के प्रभुत्व के रूप में एक नये अध्याय की शुरुआत होती है। ये व्यक्ति ऐसा अपवित्र गठबंधन तैयार कर लेते हैं, जो आज मानवमात्र के समक्ष मौजूद आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय संकट का प्रमुख कारण बनता है।

इस प्रक्रिया से लोगों में भागीदारी की भावना समाप्त हो जाती है तथा वे और अधिक वंचनाग्रस्त हो जाते हैं। भारत आज गहरे संकट से ज़्यूझ रहा है। स्वतंत्रता के पारंपरिक अर्थ में देश में स्वराज तो है परंतु सुराज, सुशासन और गांधीजी का स्वराज अर्थात् स्व-शासन के कहीं आस-पास भी नहीं है।

समावेशी एक नया शब्द है जिसका आजकल भारत में आर्थिक और राजनीतिक विमर्शों में बहुतायत से प्रयोग हो रहा है। इन विमर्शों में जिस शब्द का प्रयोग हो रहा है वह फोटोपुलुस के लेखन में प्रयुक्त शब्द की भावना से कर्तव्य मेल नहीं खाता। विभिन्न प्रकार के संकटों को बेहतर ढंग से समझने और समझाने के बाद समावेशी शब्द की उत्पत्ति हुई है। विरले लोग ही समझते हैं कि इस शब्द का सही अर्थ है समाज के सभी स्तरों पर सभी नागरिकों की प्रत्यक्ष सहभागिता। इसके विपरीत भारत में हम व्यापक तुष्टिकरण की नीति की ओर भटक गए हैं। समावेशी लोकतंत्र का अर्थ होता है सरकारी रियायतों वाले कुछ सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम। आर्थिक मोर्चे पर कुछ समावेशी उपायों में प्रमुख है— महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा), गरीबों के लिए घर, इंदिरा आवास योजना और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस)। जैसे केंद्र सरकार द्वारा संचालित रोटी और मकान की योजनाएं काफी नहीं थीं, कुछ राज्य सरकारों ने भी कपड़े के अंश के तौर पर साड़ी और धोती वितरण की योजनाओं को लागू कर दिया है। महात्मा गांधी इस प्रकार के रोजगार गारंटी और खेत के कार्यक्रमों को कभी भी अनुमोदित नहीं करते जिसमें ग्रीबों और बेरोजगारों को काम की भीख मांगनी पड़ती है और काम तथा अन्य निःशुल्क सुविधाओं को हासिल करने के चक्कर में उन्हें भ्रष्ट प्रणालियों का हिस्सा बनने को विवश होना पड़ता है। यह सम्मानजनक कार्य नहीं है। सरकार के सबकी हिस्सेदारी और समानता को प्रोत्साहन देने वाले आर्थिक कार्यक्रम भ्रष्टाचार में आकंठ ढूबे हुए हैं। आर्थिक विकास की उसकी नीतियाँ और कार्यक्रम अभी भी बहुसंख्यक लोगों की पहुंच से दूर बने हुए हैं। समावेशी लोकतंत्र के विमर्श के लागू करने के पूर्ण आर्थिक विकास को मानवीय चेहरे के साथ विकास कहकर

उसे उचित ठहराने का प्रयास किया जाता था।

भारत में हम दावा करते हैं कि पंचायत कानून में किए गए संशोधन क्रांतिकारी हैं और प्रत्यक्ष सहभागिता को निरूपित करने वाले समावेशी लोकतंत्र के अध्याय में यह एक स्वर्णिम पृष्ठ है। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। कुछ राज्यों विशेषतः गुजरात जैसे राज्यों में राज्य सरकारों द्वारा सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र) और सर (विशेष औद्योगिक प्रक्षेत्र) जैसी योजनाओं के अति उत्साही क्रियान्वयन ने पंचायत और ग्राम स्तर पर राजनीतिक विकेंद्रीकरण को एक मजाक बना कर रख दिया है। गुजरात में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां ग्राम पंचायतों ने सर्वसम्मति से संकल्प लिया है कि वे मुआवजे के साथ या उसके बगैर अपनी साझी और निजी जमीन ग्रामवासियों के उपयोग को छोड़कर औद्योगिक और अन्य किसी उद्देश्य के लिए नहीं देंगे। केंद्र और राज्य सरकारों ने इस संकट का उपेक्षा करते हुए प्रस्तावों को निरस्त कर इन जमीनों पर अतिक्रमण की धमकियों को अंजाम दिया है और उन्हें (जमीनों) को औद्योगिक घरानों और खनन माफियाओं को सौंप दिया है। अन्य राज्यों में भी ऐसा हो रहा है। ग्रीब जमीन मालिकों से पूछे बगैर ही उनकी जमीन के इस्तेमाल के बारे में निर्णय पहले ही लिये जा चुके हैं। वैज्ञानिक आधार पर भूमि उपयोग के नियोजन की किसी योजना को प्रोत्साहित नहीं किया गया है। निश्चय ही यह समावेशी लोकतंत्र नहीं है। आदिवासियों की स्थिति तो इससे भी बदतर है। पंचायत अनुसूचित क्षेत्रों का विस्तार अधिनियम 1996 के प्रावधान क्रांतिकारी दिखायी देते हैं। इसने जनजातीय समुदायों को उन प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण का अधिकार दिया है जिन पर वे अपनी आजीविका के लिए निर्भर करते हैं। वास्तविक हस्तांतरण अपूर्ण है। राज्य ने पूर्ण स्वामित्व धारण कर लिया है और उसका अधिकार क्षेत्र ही मुख्य रहेगा। यदि ग्रीबों और वर्चित वर्गों की मदद का इरादा होता तो यह समावेशी बनाया गया होता। परंतु सरकार के अधिकार क्षेत्र की प्रमुखता का उद्देश्य खनन और औद्योगिकीकरण को प्रोत्साहित करना ही है।

राजनीतिक रूप से समावेशी लोकतंत्र का एक और सूक्ष्म भेद इन दिनों रंगत दिखा

रहा है, जिससे नागर समाज के संगठन भी सहमत दिखायी देते हैं। राष्ट्र के तौर पर हम अचानक ही अधिकारों को सुलभ कराने की दिशा में चल पड़े हैं। अधिकारों का यह परिप्रेक्ष्य इस बात की ओर इशारा करता है कि वर्चित नागरिकों के वर्गों को अधिकारों की मांग करने का अधिकार है। पेयजल का अधिकार, आवास का अधिकार, आजीविका का अधिकार, रोजगार का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार और इस सूची में नित नए अधिकार जुड़ते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक रूप से वर्चित लोगों के लिए अधिकारों की एक विशेष श्रेणी भी है। हालांकि इतिहास की कुछ सामाजिक और आर्थिक गलतियों को सुधारने के लिए सार्थक कार्रवाइयों के तर्क के पीछे दम है, परंतु इन अधिकारों के साथ जुड़े कर्तव्यों की उचित भावना और संतुलन के तालमेल के बगैर यह प्रयास मुसीबत ज्यादा पैदा करेगा। इससे विभाजनकारी राजनीति को भी दिशा मिलेगी। चूंकि इन अधिकारों का उद्देश्य क्षुद्र राजनीति और आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। इससे हिंसा और अराजकता को बढ़ावा मिलने की संभावना बढ़ जाती है। जैसा देखा गया है कुछ अधिकार आंदोलनकारी हिंसा में विश्वास रखते हैं और उस पर अमल भी करते हैं। इससे देश में गृहयुद्ध की संभावना बन सकती है। इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इससे समावेशी लोकतंत्र को प्रोत्साहन मिलेगा।

वर्तमान संकट का मूल कहीं और है कहने को तो फोटोपुलुस और उनके जैसे अन्य विचारकों का विचार तो यही है कि समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा न केवल स्वतंत्रता के सर्वोच्च मानवीय आदर्श की अभिव्यक्ति करता है, बल्कि मौजूदा बहुआयामी संकट से मुक्ति पाने का यही एकमात्र रास्ता भी है परंतु लगता है कि वे मूल समस्या को ठीक से समझ नहीं सके हैं। जब तक इस पृथ्वी पर मानवमात्र का अंतिम उद्देश्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी के निर्बाध उपयोग से असीमित आर्थिक समुद्धि हासिल करना बना रहेगा, कोई भी समझदार व्यक्ति अथवा विचार वह वैयक्तिक और सामूहिक स्वायतता नहीं दिला सकता जो पश्चिमी विश्व के लोगों का स्वप्न है। भारत में तो यह कमी भी नहीं हो सकता,

जहां हम भलीभांति पश्चिम की नकल भी नहीं कर सकते।

हमें पश्चिम की नकल करने की आवश्यकता भी नहीं है। महात्मा गांधी ने 1909 में ही अपनी पुस्तक हिंद स्वराज में स्वराज की व्याख्या करते हुए लिखा था—‘आपने चित्र तैयार कर लिया है। वास्तव में इसका अर्थ है कि हम बिना अंग्रेजों के अंग्रेजी शासन चाहते हैं। आप बाघ का स्वभाव चाहते हैं, परंतु बाघ नहीं, अर्थात् आप भारत को अंग्रेज बना देंगे और जब यह अंग्रेज बन जाएगा, यह हिंदुस्तान नहीं कहलाएगा बल्कि इंगिलिस्तान कहलाएगा। यह वह स्वराज नहीं है, जो मैं चाहता हूँ।’

गांधीजी इस बात से स्पष्ट थे कि पश्चिम में स्वतंत्रता और मुक्ति की जो अवधारणा है उससे अनैतिक बर्ताव को बढ़ावा मिलेगा। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की उनकी अवधारणा सभ्यता और संस्कृति में गहरी समायी थी। अतएव स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा को रखने के पूर्व उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय सभ्यता की चर्चा की। एक प्रश्न यह है कि यदि भारतीय सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है तो फिर वह दास क्यों बना, के उत्तर में गांधीजी लिखते हैं:

‘चूंकि भारत के लोगों में कुछ खामियां थीं, इसलिए सभ्यता ख़तरे में पड़ गई है। हम जब गुलाम होते हैं तो हम सोचते हैं कि पूरा ब्रह्मांड ही गुलाम हो गया है.... वास्तव में ऐसा नहीं है। परंतु हमारी दासता के लिए पूरे भारत को दोष देना भी उचित नहीं है। परंतु यदि हम उपर्युक्त तथ्य दिमाग में रखकर देखें तो हम कह सकते हैं कि यदि हम स्वतंत्र होंगे तो भारत भी स्वतंत्र होगा और इस विचार में आपको स्वराज की परिभाषा भी दिखायी देगी। स्वराज तब होगा जब हम अपने पर शासन करना सीख जाएंगे। जिस स्वराज का चित्र में अपने और आपके समक्ष रखना चाहता हूँ वह यह है कि एक बार इसे प्राप्त कर लेने के बाद हम अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए मनाते रहेंगे। परंतु इस प्रकार के स्वराज को प्रत्येक को स्वयं ही अनुभव करना होगा।’

अपने लिए स्वराज का अर्थ है स्व-शासन। स्वतंत्रता के लिए शिक्षा कुछ और नहीं बल्कि आंतरिक नैतिक रूपांतरण है। इसी संदर्भ में गांधीजी आगे लिखते हैं कि अंग्रेजों को भारत

से बाहर खदेड़ना स्वराज की मूल भावना नहीं है। स्वयं का रूपांतरण है। आर्थिक प्रणाली की अपनी परिकल्पना को स्पष्ट करते हुए ‘हिंद स्वराज’ के छठे अध्याय में गांधीजी लिखते हैं कि पता नहीं लोग ऐसा क्यों सोचते हैं कि अच्छे मकानों में रहना और विभिन्न प्रकार के कपड़े और जूते पहनना ही सभ्य समाज का लक्षण है। लोग भाले के स्थान पर पांच-छह चैंबरों वाले रिवाल्वर लेकर चलते हैं। भाप के इंजन से ज़मीन जोतना और धनार्जन करना सभ्यता की निशानी माना जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर उड़ान भरने को सभ्यता की पराकाष्ठा समझा जाता है। उन्होंने भविष्य की परिकल्पना निम्नांकित

विरले लोग ही समझते हैं कि इस शब्द का सही अर्थ है समाज के सभी स्तरों पर सभी नागरिकों की प्रत्यक्ष सहभागिता। इसके विपरीत भारत में हम व्यापक तुष्टिकरण की नीति की ओर भटक गए हैं। समावेशी लोकतंत्र का अर्थ होता है सरकारी रियायतों वाले कुछ सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम।

दृंग से की—“मनुष्य जैसे-जैसे प्रगति करता जाता है, वह विमानों की यात्रा करना चाहता है। लोगों को अपने हाथ और पांव के इस्तेमाल की आवश्यक नहीं रह जाएगी। वे एक बटन दबाएंगे और उनके कपड़े उनके पास रखे होंगे। एक और बटन दबेगा तो अखबार उनके हाथों में होगा। तीसरा बटन दबाने पर मोटरकार उनकी प्रतीक्षा में खड़ी होगी। वे नज़ाकत और नफ़ासत के साथ परोसे गए विभिन्न व्यंजनों का रसास्वादन कर सकेंगे। पहले, जब एक दूसरे से लड़ना चाहते थे तो वे अपनी और प्रतिद्वंद्वी के शारीरिक दमखम का अदांज लगाते थे, परंतु अब एक पहाड़ी में छिपे बैठे व्यक्ति की बंदूक हज़ारों लोगों की जान ले सकती है। यही सभ्यता है।” गांधीजी आगे लिखते हैं—“सभ्यता शारीरिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि करना चाहती है, परंतु ऐसा करने में वह बुरी तरह से विफल रही है। सभ्यता अधर्म है और इसने इंगलैंड में लोगों पर इस कदर अपना प्रभाव जमा लिया है कि जो लोग इसके आदि हो चुके हैं, वे अर्ध विक्षिप्त लगते हैं। उनमें वास्तव में कोई शारीरिक शक्ति या साहस नहीं

होता। वे अपनी राशि ऊर्जा नशों से प्राप्त करते हैं। वे अकेले में कभी भी प्रसन्न नहीं रह सकते।” पाश्चात्य समाज अति भौतिकवादी था। इस कारण वे औद्योगिकरण को स्वीकार नहीं करते थे। औद्योगिक समाज के निर्माण में कूर बल प्रयोग होता था और इससे जनित हिंसा आधुनिक औद्योगिक समाज की मुख्य विशेषता थी। गांधीजी इस प्रकार की सभ्यता के विरोधी थे और एक ऐसे अहिंसक समाज के बारे में सोचा करते थे जो आत्मबल, सत्य बल और प्रेम बल पर आधारित होगा। गांधीजी ने समाज के बारे में अपने मूलभूत विचारों में जीवन पर्यंत कोई बदलाव नहीं किया। गांधीजी राज्य (शासन) में बांध के स्वभाव को स्वीकार नहीं करते थे। उनकी संसदीय लोकतंत्र की स्वीकृति एक समझौता थी। क्योंकि उन्हें पता था कि जब तक लोग स्वतंत्रता की शिक्षा नहीं लेंगे, इस प्रकार का लोकतंत्र एक मृगतृष्णा ही बनकर रह जाएगी।

समावेशी लोकतंत्र का गांधीजी का नज़रिया सहृदय (मानवीय) समाज की उभरती परिकल्पना से उभरकर आया था। वे एक औद्योगिक और शहरी समाज को पसंद नहीं करते थे। उनके लिए ग्रामीण बस्तियां आदर्श बस्तियां थीं जो अहिंसक समाज में बदल सकती थीं। स्वतंत्रता संग्राम में आए परिवर्तन को देखने और उसे स्वीकार कर लेने के बाद भी वे अपनी परिकल्पना को लेकर बिल्कुल स्पष्ट थे। स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य केवल अंग्रेजों से आज़ादी प्राप्त करना ही रह गया था। उन्होंने स्वशासन के रूप में स्वराज का अपना एजेंडा नहीं छोड़ा था। नेहरू जी (पं. जवाहर लाल) को दिनांक 5 अक्टूबर, 1945 को लिखे पत्र में गांधीजी ने अपनी परिकल्पना के बारे में बताया और उनसे उत्तर मांगा। यह एक लंबा पत्र था। उन्होंने लिखा, “मुझे पूरा विश्वास है कि यदि भारत को सही तौर पर स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और भारत के माध्यम से विश्व को भी, तो देर-सबेर, लोगों को यह बात स्वीकार करनी होगी कि उन्हें गांवों में रहना होगा, शहरों और महलों में करोड़ों लोग कभी भी एक-दूसरे के साथ शांति से नहीं रह सकेंगे। उनके पास हिंसा और असत्य का सहारा लेने के अलावा कोई चारा नहीं बचेगा।” नेहरू जी को लिखे इस लंबे पत्र में आधुनिक विज्ञान का समर्थन करते हुए

गांधीजी कहते हैं, “मेरी कल्पना का गांव, वैसा नहीं होगा, जैसा आज दिखाई देता है। मेरे सपनों के गांव में बुद्धिमान इंसान रहेंगे। वे पशुओं की भाँति अंधकार और गंदगी में नहीं रहेंगे। स्त्री और पुरुष सभी स्वतंत्र होने और विश्व के किसी भी व्यक्ति के सामने स्वाभिमान से खड़े हो सकेंगे। वहां न तो प्लेग होगा और न ही चेचक; कोई भी बेकार नहीं बैठेगा और न ही कोई विलासिता में डूबा रहेगा। सभी को अपने हिस्से का शारीरिक श्रम का योगदान करना होगा।”

यहां पर हमें याद रखना होगा कि भारत की नियति को आकार दिया जा रहा था। गांधीजी के विचारों को आमजनों ने कितना समझा, यह नहीं पता। गांधीजी अपने विचारों और आदर्शों को आगे बढ़ाने के लिए नेहरू पर निर्भर थे। उन्होंने नेहरू जी से ऐसा आग्रह किया, तो इसके पीछे कारण था। जैसा कि उपर्युक्त पत्र में गांधीजी ने लिखा था कि वे चाहते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में दोनों के बीच विचारों की जो समानता थी, वह अन्य क्षेत्रों में भी बनी रहनी चाहिए। गांधीजी ने अपनी बढ़ती आयु का उल्लेख करते हुए लिखा कि उन्होंने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी नमित किया है। इसलिए उन्हें अपने उत्तराधिकारी को और उत्तराधिकारी (नेहरू) को गांधीजी को और बेहतर ढंग से समझना चाहिए।

नेहरूजी के विचार कुछ भिन्न थे। वे ग्राम समाज के विचार के प्रति सहज नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे आधुनिकता से गहरे प्रभावित थे। वे देश की तत्कालीन समस्याओं के निराकरण के लिए भिन्न और संभवतः अधिक व्यावहारिक रास्ता अपनाना चाहते थे। उनके विचार में अंतिम आदमी की नियति को आकार देने में राज्य (शासन) की भूमिका कहीं बड़ी और महत्वपूर्ण थी। उन्होंने अपने पत्र में लिखा, खाद्य (भोजन), कपड़ा, आवास, शिक्षा और स्वच्छता की पर्याप्त सुविधाओं का उल्लेख करते हुए लिखा कि “देश के प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। हमें विचार करना होगा कि कैसे हम इन उद्देश्यों को तेजी से हासिल कर सकेंगे और फिर, यह अवश्यम्भावी लगता है कि परिवहन और आवागमन के आधुनिक साधनों के साथ-साथ आधुनिक विकास की

अन्य सुविधाओं का भी विकास होना चाहिए। यदि ऐसा है तो यह आवश्यक होगा कि भारी उद्योग बड़े पैमाने पर लगें। विशुद्ध ग्रामीण समाज के साथ किस प्रकार इसका सामंजस्य बिठाया जाए, यह देखना होगा। यदि देश में दो प्रकार की अर्थव्यवस्था रहेगी तो या तो दोनों में संघर्ष होगा या एक-दूसरे पर हावी रहेगी।”

गांवों और शहरों के मुद्रदे पर नेहरू जी का कहना था: “लाखों लोगों के लिए महलों का प्रश्न ही नहीं है। परंतु मुझे इस बात में कोई कारण समझ नहीं आता कि लाखों-करोड़ों लोगों को आरामदेह और आधुनिक मकान क्यों नहीं मिलने चाहिए, जहां वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता बरकरार रख सकें। आज के अनेक बड़े शहरों में ढेरों बुराइयां आ गईं

समावेशी लोकतंत्र का राजनीतिक नज़रिया स्पष्ट होना चाहिए। गांधीजी अपने हिंद स्वराज में इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। परंतु बाद में 28 जुलाई, 1946 को एक साक्षात्कार में उन्होंने व्यक्ति, राज्य और विश्व समुदाय के बीच परस्पर संबंधों के बारे में अपनी परिकल्पना को स्पष्ट किया। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि गांधीजी की स्वराज की अवधारणा में समावेशी लोकतंत्र के सभी घटक निहित हैं।

हैं, जो निंदनीय हैं। संभवतः हमें शहरों के इस विस्तार को हतोत्साहित करना होगा और इसी के साथ-साथ गांवों को शहरों की संस्कृति अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा।”

नेहरू जी ने साफ़-साफ़ स्वीकार किया कि स्वतंत्र भारत की जो परिकल्पना गांधीजी के हिंद स्वराज में की गई थी, उससे वह कभी प्रभावित नहीं हुए। उनका विचार था कि स्वयं गांधीजी अपने उस विचार से आगे बढ़ चुके हैं। गांधीजी के 5 अक्टूबर, 1945 के पत्र में एक बार फिर उसका उल्लेख किए जाने पर नेहरूजी ने अपने उत्तर में लिखा कि 20 वर्ष पूर्व जब मैंने उसे पढ़ा था तभी मुझे पूरी तरह से अवास्तविक लगा था। आप जानते हैं कि कांग्रेस ने कभी भी इस धारणा पर विचार नहीं किया उसे अपनाने की बात तो दूर की बात है। हिंद स्वराज को लिखे 38 वर्ष बीत चुके हैं। तब से दुनिया काफी बदल

चुकी है। संभवतः गलत दिशा में बढ़ी है। तथापि, इन प्रश्नों (ग्राम स्वराज) पर विचार करते समय हमें मौजूदा तथ्यों, ताक्तों और हमारी आज की मानव सामग्री को ध्यान में रखना होगा, अन्यथा हम वास्तविकता से कोसों दूर चले जाएंगे।

स्पष्ट है कि गांधीजी के घोषित उत्तराधिकारी नेहरूजी को हिंद स्वराज में कोई विशेष आस्था नहीं थी। सरदार पटेल और अन्य महत्वपूर्ण नेताओं के विचारों के बारे में भी स्पष्ट तौर पर कुछ पता नहीं क्योंकि स्वतंत्रता के बाद जब सरकार आर्थिक-सामाजिक नीतियां तैयार कर रही थीं, शायद ही किसी बड़े नेता ने हिंद स्वराज के प्रति निष्ठा दिखाई थी। एक अर्थ में नेहरूजी सही थे, क्योंकि कांग्रेस में शायद ही किसी ने हिंद स्वराज की याद रही थी। परंतु गांधीजी का विश्वास कायम रहा। उन्हें स्पष्ट तौर पर यह विश्वास था कि जब तक हिंद स्वराज की परिकल्पना भारतीयों और समस्त मानव मात्र की परिकल्पना नहीं बन जाती, समावेशी लोकतंत्र संभव नहीं हो सकता, हालांकि उन्होंने कभी भी समावेशी लोकतंत्र की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया। यहां समावेशी लोकतंत्र का वही अर्थ है जो फोटोपुलुस के लेख में था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका था।

गांधीजी ने समावेशी लोकतंत्र के बारे में अपने विचार रखते हुए चार बिंदुओं का विशेष उल्लेख किया। एक सामाजिक समूह में व्यक्ति स्वतंत्र तभी हो सकता है जब उसमें लोगों को समान अधिकार मिले हों और लोगों को अपना सर्वोत्तम देने के लिए उन्हें समान अवसर भी प्राप्त हों। समाज की इकाई गांव है। इस पर गांधीजी कोई समझौता नहीं करते। गांव केवल रहने के लिए एक मानवीय बस्ती भर नहीं होगा, बल्कि वह उत्पादन की मात्रा और पद्धति तथा अर्थव्यवस्था का आकार भी निर्धारित करेगा। प्राकृतिक रूप से पास-पड़ोस में उपलब्ध सामग्री को आधार बनाकर आजीविका और आत्मनिर्भरता को अधिक महत्व दिया गया है, बजाय इसके कि दुनियाभर से वस्तुएं मंगाकर एक ऐसे मुक्त बाजार के लिए संघर्ष करना जो कभी भी निष्पक्ष व्यापार का रूप नहीं ले पाता।

नेहरूजी और अन्य बहुत-से लोग गांधीजी की विचार को ठीक से नहीं समझ सके।

नेहरूजी सामूहिक विकल्प (पसंदगी) के पक्ष में थे। भारत ने नियोजन का रास्ता अपनाया और संभवतः गंभीर चोट खाई। यदि गांधीजी कुछ और समय के लिए जीवित रहते तो वे ऐसा कदमपि नहीं होने देते। वे सत्याग्रह करते और सामाजिक-आर्थिक इकाई के तौर पर गांव को आधार बनाने के लिए कुछ रचनात्मक कार्य करते। नेहरू जी का विचार था कि लोगों के कल्याणकारी कार्यों में राज्य (शासन) की भूमिका महत्वपूर्ण और निर्णायक होती है। गांधीजी ऐसा नहीं सोचते थे। ऐसा होता तो वे भी पश्चिम के राह पर चल पड़ते। उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? क्योंकि गांधीजी मानक अर्थशास्त्र से भिन्न विचार रखते थे। विश्व के बारे में उनके जो विचार थे, उनमें कुछ ऐसे तत्व थे, जो पश्चिमी विचारधारा से भिन्न थे और उनको ठीक से समझा भी नहीं गया। गांधीजी के अनुसार व्यक्तिगत विकल्पों में नैतिकता और सदाचारिता का विशेष स्थान था। आर्थिक सिद्धांत के गांधीवादी दृष्टिकोण में इसी ‘नैतिक वरीयता’ को केंद्र में रखा गया था।

यहां यह प्रश्न उठता है कि पश्चिमी विश्व से समावेशी लोकतंत्र का जो मुद्दा उठा, वह आखिर क्यों कर हुआ? उत्तर सरल है। उन्होंने अपनी आर्थिक नीतियों में ‘स्वायत्त नैतिक तत्व’ की घोर उपेक्षा की और केवल ‘आर्थिक तत्व’ पर ध्यान केंद्रित किया, जो आमतौर पर शारीरिक और भौतिक विकास पर जाकर ठहर जाता था। इसने स्वयं के साथ, लोगों के बीच और प्रकृति के साथ समरसता को छोपट कर दिया। यह एक सीधा-सादा कारण हो सकता है और संभवतः इसी कारण स्वीकार भी नहीं किया जाएगा। परंतु गांधीजी का विचार था कि मूल कारण यही है। समाज में इस प्रकार के लोग अपने इलाके और देश में ही नहीं, दूसरे देशों में भी प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहते थे। आर्थिक शक्ति और नियंत्रण के लिए राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता थी। फोटोपुलुस ने अपनी पुस्तक में इसकी व्याख्या की है। उन्होंने अर्थशास्त्रियों और पर्यावरणविदों द्वारा आर्थिक और पर्यावरणीय संकट से छुटकारा पाने के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों की पड़ताल की है। उन्हें अनवरत (संपोषणीय) विकास पर ब्रूंडलैंड समिति की रिपोर्ट से कोई आशा नहीं है। वे कहते हैं कि

दक्षिणपंथी और वामपंथी, दोनों की ही धारणा एक जैसी ही है। फोटोपुलुस का कहना है कि विकल्प के रूप में दक्षिणपंथी जहां और अधिक बाज़ारीकरण का रास्ता सुझाते हैं, वहाँ वामपंथी और अधिक राजकीय दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। वे दोनों की ही आलोचना करते हैं, परंतु स्वयं जो प्रस्ताव करते हैं, वह अपने आप में अस्पष्ट है और व्यक्ति तथा उसकी वरीयताओं को स्पर्श नहीं करता।

गांधीजी ने व्यक्ति और उसकी स्वयं के प्रति साथी इंसानों के प्रति और प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व पर बल दिया। यदि इसे भारतीय संस्कृति के संदर्भ में देखें तो गांधीजी के लिए यह क्रम व्यक्ति, समष्टि और सृष्टि का रहता। व्यक्तिगत और समाज

समाज की इकाई गांव है। इस पर गांधीजी कोई समझौता नहीं करते। गांव केवल रहने के लिए एक मानवीय बस्ती भर नहीं होगा, बल्कि वह उत्पादन की मात्रा और पद्धति तथा अर्थव्यवस्था का आकार भी निर्धारित करेगा।

के प्रयासों को इस प्रकार सुधारा जाना चाहिए कि व्यक्ति और समष्टि का मिलाप समरस हो और प्रत्येक व्यक्ति समष्टि की प्रक्रियाओं का एक आवश्यक अंग बन सके। परंतु प्रकृति को प्रभावित करने की कोशिश में उनकी सोच-ईशावस्यम् इदं सर्वम् यत्किंचित् जगत्याम् जगतः:

तेन त्यक्तेन भर्जिता मा गृद्ध कस्यस्विद धनम्।

के अनुसार होनी चाहिए, अर्थात् इस क्षणभंगुर विश्व में जो भी परिवर्तनशील हैं वह सब ईश्वर के हाथों में होना चाहिए। उसे (विश्व को) त्यागकर, अपना संभरण करो, किसी अन्य की संपत्ति की लालसा न करो।”

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति तथा मानवीय उपलब्धियों के इस दौर में प्रकृति को पूरा सम्मान दिया जाना चाहिए और मानवता को अपना आने वाला नहीं भूलना चाहिए। यद्यपि व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही अंतिम लक्ष्य है। मानव मात्र को गांधीवादी शिक्षा को अपनाने की आवश्यकता है। गांधीजी स्वयं जीवन के अंतिम दिन तक शिक्षा ग्रहण करते रहे। उन्होंने इस प्रकार की शिक्षा की सिफारिश केवल हम भारतीयों के लिए ही नहीं, बरन इस विश्व

के सभी नागरिकों के लिए की है। इस प्रकार की शिक्षा लोगों की वरीयताओं और विकल्पों को सूचित/प्रभावित करेगी। परिणामस्वरूप हम अनंत इच्छाओं को पूरा करने में ही नहीं लगे रहेंगे। यह ज़रूरी है कि अधिक-से-अधिक प्राप्त करने ही इच्छा समाप्त होनी चाहिए। तभी अधिकारों और अवसरों की समानता सुनिश्चित की जा सकती है। मानव और प्रकृति के बीच संबंध बदल जाएगा, जिससे पर्यावरणीय संकट को टाला जा सकेगा।

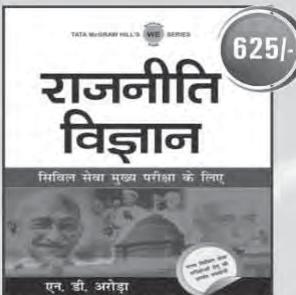
समावेशी लोकतंत्र का राजनीतिक नज़रिया स्पष्ट होना चाहिए। गांधीजी अपने हिंद स्वराज में इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। परंतु बाद में 28 जुलाई, 1946 को एक साक्षात्कार में उन्होंने व्यक्ति, राज्य और विश्व समुदाय के बीच परस्पर संबंधों के बारे में अपनी परिकल्पना को स्पष्ट किया। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि गांधीजी की स्वराज की अवधारणा में समावेशी लोकतंत्र के सभी घटक निहित हैं। गांधीजी ने कहा: “प्रत्येक गांव एक गणतंत्र अथवा पंचायत होगा, जिसे पूर्ण अधिकार होंगे। इसका अर्थ है कि प्रत्येक गांव को संपोषित होना होगा और अपने मामलों के प्रबंधन के योग्य होना पड़ेगा। अंततः यह व्यक्ति है, जो इकाई है। इसमें किसी पर निर्भरता और पड़ोसियों अथवा विश्व से सहायता को दूर नहीं रखा जाएगा। यह परस्पर बलों का स्वतंत्र और स्वैच्छिक खेल होगा। प्रत्येक पुरुष और महिला को यह पता है कि उसे क्या करना चाहिए। यहां तक कि उसे यह भी पता है कि ऐसी कोई वस्तु उसे नहीं चाहिए जो अन्य व्यक्ति समान परिश्रम से प्राप्त नहीं कर सकते।”

गांधीजी को पता था कि उन्होंने जो चित्र खींचा है, उसे अव्यावहारिक कहा जाएगा। परंतु यह देखा जा सकता है कि समावेशी लोकतंत्र की उनकी अवधारणा आज के लेखन में चर्चित विचारों की तुलना में अधिक ठोस हैं। इस समय, पहले जो हो चुका है, उसे तो वापस नहीं ले सकते, परंतु हमारी गलतियां सदा के लिए नहीं जारी रहनी चाहिए। दिशा परिवर्तन और स्वशासन हेतु शिक्षा तथा मानवमात्र एवं प्रकृति के साथ स्वस्थ संबंध बनाने की ओर बढ़ाना सदा संभव है। □

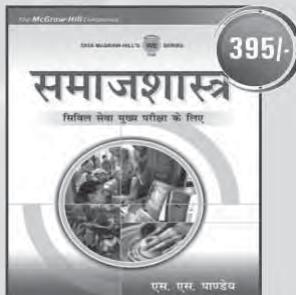
(लेखक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के कुलपति हैं।
ई-मेल : sudarshan54@gmail.com)

मैक्स्यॉ-हिल एजुकेशन

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा-2013



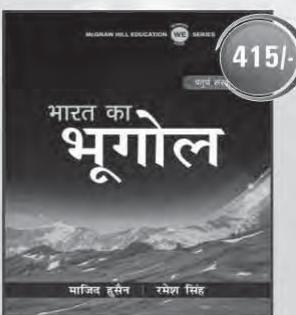
9780070144866



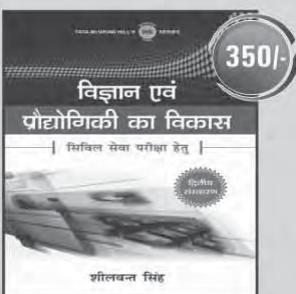
9780070264205



9780070144859

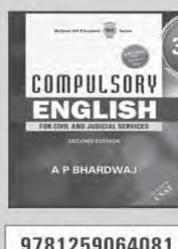


9781259064043

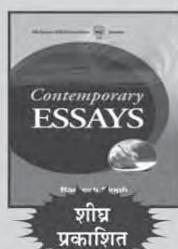


9781259003851

अन्य उपयोगी पुस्तकें			
ISBN-13	Author	Title	Price (₹)
9780070659995	दृष्टे	21 शताब्दी में लोक प्रशासन	260.00
9780070659988	दृष्टे	प्रशासनिक विचारधाराएँ	230.00
9780070703209	हुसैन	भौगोलिक मानचित्रावली	280.00
9780070263772	हुसैन	भौगोलिक मॉडल्स	250.00
9780070704831	मिश्रा	निबंध भंजूषा	235.00
9780070705449	पाण्डेय	प्राचीन भारत	195.00
9789383286973	पंत	अंतर्राष्ट्रीय संगठन	200.00
9780071329453	पंत	21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध	250.00
9780070144842	पंत	भारत की विदेश नीति	200.00
9780070263741	सिंह	जी.एस. मुख्य परीक्षा डेंडस एवं टिप्प	250.00
9780070153189	उदय भान	सांख्यिकी विश्लेषण ग्राफ एवं आरेख	275.00
9780070705456	सिंह	अर्थव्यवस्था की मौलिक संकल्पनाएँ	175.00
9780070660328	तारिक	आधुनिक भारत का इतिहास	225.00
9780070679757	महेश्वरी	समग्र लोक प्रशासन	410.00



9781259064081



शीघ्र प्रकाशित

मैक्स्यॉ-हिल एजुकेशन (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

बी-4, सैकटर-63, गौतम बुद्ध नगर, नोएडा, उत्तर प्रदेश-201 301,

फोन: +91-120-4383502/4383503, फैक्स: +91-120-4383401, वैबसाइट: www.mheducation.co.in

उत्तर भारत: दिल्ली/हरियाणा/पंजाब/चंडीगढ़/जम्मू-कश्मीर/हिमाचल प्रदेश/राजस्थान: आशीर्वाद (09717005237);

हरियाणा/पंजाब/चंडीगढ़/जम्मू-कश्मीर/हिमाचल प्रदेश/राजस्थान: सागर भट्ट (09815089556); दिल्ली/राजस्थान: मनीष वार्षने (09560450527); मध्यप्रदेश/छत्तीसगढ़: प्रकाश शर्मा (09907486734); उत्तरप्रदेश/उत्तराखण्ड: जगदीश ध्यानी (09670878655)

पूर्वी भारत: झारखण्ड/उडीसा: सतीश कुमार सिंह (09973944225); बिहार: रणविजय कुमार (08809561425)

पश्चिम भारत: महाराष्ट्र/गोवा/गुजरात: जूनियर गोडिल्स (09833054319); गुजरात/महाराष्ट्र: दिलीप चौरसिया (09769429202)

महाराष्ट्र/छत्तीसगढ़: सारभ कनुगाई (08378991475) विक्रय एवं प्रकाशन हेतु जानकारी हेतु लिखें: test_prep@mcgraw-hill.com

For online purchase of MHE products please log on to www.tmhshop.com



YH-108/2013

विषमता में समावेशी लोकतंत्र कैसे संभव

● रहीस सिंह

वर्षों पहले अमरीकी न्यायविद् लुई डी ब्रैंडे हो सकता है या थोड़े से लोगों के हाथों में भारी संपदा का संकेंद्रण हो सकता है परंतु दोनों एक साथ नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक विषमता और जनतंत्र का एक साथ रहना असंभव है क्योंकि विषमता या तो जनतंत्र को धीरे-धीरे नष्ट कर देती है अथवा उसे दोषपूर्ण बना देती है, लुई ब्रैंडे का यह कथन सिफ्ऱ अमरीका या पश्चिमी दुनिया पर ही लागू नहीं होती है बल्कि शेष दुनिया पर भी लागू होती जिसमें भारत भी शामिल है। इसलिए यह सवाल उठना लाजिमी है कि भारत में लोकतंत्र कहां पर है? दरअसल, भारत ने जब से नवउदारावादी नीतियों को अपनाया है तब से अरबपतियों की संख्या और उनकी दौलत में तो नाटकीय ढंग से वृद्धि हुई ही है लेकिन मानव आवादी के सबसे निचले हिस्से की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। परिणाम यह हुआ कि विषमता की खाई लगातार चौड़ी होती चली गई। क्रेडिट सुसी रिसच इंस्टीट्यूट द्वारा जारी विश्व संपत्ति रिपोर्ट की बात माने तो भारत में संपन्नता तेजी से बढ़ रही है, अमीरों और मध्यम वर्ग की संख्या भी बढ़ती जा रही है लेकिन इस विकास में हर कोई हिस्सेदार नहीं है क्योंकि भारत में अब भी गरीबी एक बड़ी समस्या है। क्या इस स्थिति में लोकतंत्र अपने वास्तविक रूप में स्थापित हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर समावेशी लोकतंत्र की संभावनाएं कितनी होंगी, इसका अंदेजा सहज ही लगाया जा सकता है।

तकनीकी रूप से तो लोकतंत्र अपने आप में कोई पूर्ण विषयवस्तु नहीं है बल्कि यह एक विकासात्मक प्रक्रिया है जो सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन के

लिए एक ऊर्जस्वित यांत्रिकी उपलब्ध कराती है। इसकी जड़ें अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और अपनी लोकप्रिय आकांक्षाओं में निहित होती हैं इसलिए सभी जगहों पर इसके विरुद्ध उठने वाले प्रश्न, शंकाएं या चिंताएं समान कारणों से नहीं हो सकतीं।

लेकिन वर्तमान

समय में जो एक चीज़ बहुत तेज़ी से विकसित हो रही है, वह है आर्थिक विषमता जिसके कारण एक तरफ लोकतंत्र कभी-कभी तो अपने अर्थों में ही कमज़ोर होता दिखायी पड़ने लगता है तो कभी यह एक वर्ग विशेष के लिए उपलब्धियों के रूप में सामने आता है, तो कभी दूसरे वर्ग के लिए निपट गरीबी के रूप प्रस्तुत होता दिख रहा है। यह एक छद्म निष्कर्ष नहीं है बल्कि भारत में इसकी स्पष्ट तस्वीर देखी जा सकती है और पर्याप्त कारण भी। हालांकि भारत में राजनीतिक संरचना और उसको निर्देशित करने वाले कारणों का खुलासा उतनी स्पष्टता के साथ नहीं हो पाता जितना कि अमरीका जैसे देशों में हो जाता है, इसलिए या तो बहुत कुछ अस्पष्ट रहता है या फिर उसे मध्यकालीन जाति और धर्म के प्रत्ययों से जोड़ दिया जाता है। लेकिन बहुत हद तक दोनों ही जगहों पर कार्य-कारण समान हैं इसलिए यह उम्मीद की जा सकती है कि जो कार्य-कारण अमरीका में हैं। वे संभवतः उससे कहीं अधिक विकृत रूप में



भारत में अवश्य होंगे। उल्लेखनीय है कि कुछ समय पहले न्यूयार्क स्थित एक अमरीकी थिंक टैंक 'डेमॉस' द्वारा 'स्टैक्ड डेक' नाम से एक रिपोर्ट जारी की गई थी। इस रिपोर्ट में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि किस तरह से राजनीति पर अमीरों और पूँजीपतियों का कब्जा होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप आर्थिक गतिशीलता धीरे-धीरे समाप्त हो रही है और सामाजिक-आर्थिक विकास की सीढ़ियों से नीचे से ऊपर चढ़ने में कितनी रुकावटें आ रही हैं। इस रिपोर्ट में इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है कि किस तरह से पूँजीपति व उद्यमी विशाल चंदे देकर सत्ता के साथ एक नये किस्म का गठबंधन बना लेते हैं। इससे राजनीतिक समानता या दूसरे शब्दों में कहें तो लोकतंत्र के समावेशीकरण की अवधारणा कमज़ोर पड़ती है। इस रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया गया है कि राजनीति के पायदान वही चढ़ सकेंगे जिनके पास धन की बाहुल्यता होगी, सरकारों पर उन्हीं का नियंत्रण होगा। तात्पर्य यह हुआ कि पूँजीवाद के साथ लोकतंत्र का घालमेल

होने से जिस नवलोकतंत्रवाद का विकास हुआ उसमें आम आदमी के सरोकार कम हो गए और पूँजीपति, उद्यमी तथा भद्रजनों के सरोकारों का इजाफ़ा हुआ।

भारत में लोकतंत्र की क्रॉनी कैपिटल अथवा उनके संरक्षकों के साथ पर्याप्त घनिष्ठता देखी जा सकती है। इसका एक सीधा और सरल अनुमान तो संसद में उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या के आधार पर भी लगाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान संसद के निचले सदन में 543 सदस्यों में से लगभग 300 सदस्य करोड़पति या अरबपति (इनमें से अधिकांश अरबपति) हैं। भारत में इसके अतिरिक्त भी एक विशेष पक्ष है, जो लोकतंत्र के समक्ष चुनौती उपस्थित कर रहा है और वह है आपराधिक छवि वाले लोगों का संसद में बड़ी संख्या में पहुंचना। वर्तमान लोकसभा में ऐसे कई सदस्य हैं जो आपराधिक छवि के हैं। इनके बाद जो कुछ बचता है, उस पर परंपरागत राजनीतिक परिवारों अथवा राजनीतिक उत्तराधिकारियों का कब्ज़ा है। फिर आम आदमी के लिए कितनी जगह शेष रह जाती है और कहां है? श्रेष्ठ योग्यता का धारक होने के बावजूद यदि कोई भारतीय नागरिक इन अर्थिक अथवा अन्य उपादानों से संपन्न नहीं है तो वह लोकतंत्र की वर्तमान सीढ़ियों पर नहीं चढ़ सकता। फिर यह सवाल तो उठाना ही चाहिए कि लोकतंत्र का वास्तविक अर्थ क्या है और यह लोकतंत्र है किसके लिए? ऐसा नहीं है कि हमारा सर्विधान समावेशी लोकतंत्र की संवेदनाओं से अछूता है या फिर वह इसकी अपेक्षा नहीं करता। भारत का लोकतंत्र संवदेनशील भी है और यह अपेक्षा करता है कि लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति की सहभागिता सुनिश्चित हो। उसकी प्रस्तावना में ही कहा गया है - 'हम भारत के लोग' भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता तथा समानता जैसे अधिकारों की प्रतिष्ठा करें। यानी लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति 'हम भारत के लोगों' में निहित की गई है, लेकिन यह केवल औपचारिक पक्ष है। सच इससे भिन्न है क्योंकि लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति हम भारत के लोगों में नहीं बल्कि भारत के उस राजनीतिक तंत्र में निहित

है जो लोकतंत्र सूचकांक में कुल अंकों के 50 प्रतिशत के आसपास ही स्कोर कर रहा है। इसका कारण यह है कि वर्तमान राजनीतिक संस्कृति लोकतंत्र का इस्तेमाल अपने लाभों के साथ-साथ अपनी उत्तरजीविता को पुख्ता करने के लिए करती है। अगर ऐसा न होता तो अब तक भारत से सामाजिक-आर्थिक विषमता की विषबेल न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती।

इसके विपरीत भारत का सच यह है कि यहां लगभग आधे या आधे से अधिक लोग निपट गरीबी में बसर कर रहे हैं। विश्व बैंक के मुताबिक भारत की लगभग 41.6 प्रतिशत आबादी अंतर्राष्ट्रीय गरीबीरेखा के नीचे है। ग्रामीण विकास मंत्रालय की ओर से गठित एन.सी. सक्सेना समिति तो यह प्रतिशत बढ़ाकर 50 कर देती है। अगर एनएसएसओ के ताज़ा आंकड़ों पर ध्यान दें तो, 2011-12 (जुलाई-जून) के दौरान देश के ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली पांच प्रतिशत सबसे निर्धन आबादी का प्रतिव्यक्ति मासिक औसत ख़र्च 521.44 रुपये था और पांच प्रतिशत सबसे अमीर आबादी का 4,481 रुपये। इसके विपरीत शहर की पांच प्रतिशत निर्धन आबादी का प्रतिव्यक्ति औसत ख़र्च 750 रुपये था जबकि पांच प्रतिशत अमीर आबादी का मासिक प्रतिव्यक्ति ख़र्च 10,282 रुपये। यह तो एक सामान्य तस्वीर है जो विषमता की संक्षिप्त रूपरेखा पेश करती है। लेकिन असल सवाल यह नहीं है बल्कि यह है कि ये गरीब लोकतंत्र के उस ढांचे में किस तरह से फिट बैठ पाएंगे जो अपनी जीविका चलाने में ही असमर्थ हों। क्या कोई ऐसा फार्मूला बनेगा, जिससे लोकतंत्र की सहभागिता में अमीरी या गरीबी अवरोधक न बने। यदि ऐसा नहीं होता है तो फिर देश की कम से कम आधी आबादी लोकतंत्र के अर्थ और और उसके महत्व को

समझने में हमेशा ही असमर्थ रहेगी।

सामान्यतया समावेशी लोकतंत्र की बात तब होनी चाहिए, जब पहले यह सुनिश्चित हो जाए कि हम वास्तव में लोकतंत्र को अपनाने और उचित तरीके से क्रियान्वित करने में किस सीमा तक सफल हुए हैं। अगर इकोनॉमिस्ट इंटेलिजेंस डेमोक्रेसी रिपोर्ट देखें तो पता चलता है कि दुनिया में केवल 15 प्रतिशत देश ही पूर्ण लोकतंत्र को अपनाने में कामयाब हैं अथवा दुनिया की कुल आबादी का केवल 11.3 प्रतिशत हिस्सा ही वास्तविक लोकतंत्र के करीब हैं, शेष या तो दोषपूर्ण लोकतंत्र के अधीन है या फिर शासन के दूसरे रूपों के नीचे दबा हुआ है (देखें तालिका-1)।

यहां पर ध्यान देने वाली बात यह है कि डेमोक्रेसी इंडेक्स (लोकतंत्र सूचकांक) में जो देश 8 से 10 स्कोर ले गए हैं वे ही पूर्ण लोकतंत्र को अपनाने वाले देश माने गए हैं अथवा उन देशों में पूर्ण लोकतंत्र माना गया है। जिनका स्कोर 6 से 7.9 अंक के मध्य है, वहां वास्तविक लोकतंत्र न होकर दोषपूर्ण लोकतंत्र है। अगर भारत की बात करें तो उसका स्कोर वर्ष 2006 से लेकर वर्ष 2012 तक 7 से 8 अंकों के मध्य ही रहा है (देखें तालिका-2)। इस दृष्टि से भारत में दोषपूर्ण लोकतंत्र माना जाएगा। यही नहीं यदि तालिका-2 को गौर से देखें तो स्पष्ट तौर पर पता चलता है कि भारत में पिछले पांच वर्षों में लोकतंत्र में गिरावट आई है क्योंकि उसका स्कोर कुछ गिरा है। इसकी बजहें क्या हैं, इस पर भी इकोनॉमिस्ट इंटेलिजेंस डेमोक्रेसी इंडेक्स में प्रकाश डाला गया है (देखें तालिका-3)।

तालिका-3 में जो आंकड़े दिए गए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि वर्ष 2011 और वर्ष 2012 में भारत में लोकतंत्र की संस्थाओं अथवा उसके अनुषंगी घटकों में उत्थान नहीं बल्कि पतन के लक्षण ही दिखें।

तालिका-1

लोकतंत्र सूचकांक 2012

लोकतंत्र का प्रकार	देशों की संख्या	देशों का प्रतिशत	विश्व की जनसंख्या का प्रतिशत
पूर्ण लोकतंत्र	25	15	11.3
दोषपूर्ण लोकतंत्र	54	32.3	37.2
हाईब्रिड शासन	37	22.2	14.4
अधिनायकवादी शासन	51	30.5	37.1

नोट : यह सूचकांक विश्व जनसंख्या में 167 देशों की जनसंख्या को कवर करता है।

तालिका-2

लोकतंत्र सूचकांक में भारत की स्थिति (वर्ष 2006 से 2012 तक)					
वर्ष	2006	2008	2010	2011	2012
स्कोर	7.68	7.80	7.28	7.30	7.52

तालिका-3

लोकतंत्र सूचकांक में भारतीय स्कोर की श्रेणीगत स्थिति

वर्ष	रैंक	कुल स्कोर	चुनाव प्रक्रिया एवं बहुलवाद	सरकार की कार्यप्रणाली	राजनीतिक भागीदारी	राजनीतिक संस्कृति	नागरिक स्वतंत्रता
2006	35	7.68	9.58	8.21	5.56	5.63	9.41
2011	39	7.30	9.58	7.5	5.00	5.00	9.41
2012	38	7.52	9.58	7.5	6.11	5.0	9.41

स्रोत : डेमोक्रेसी इंडेक्स 2012, द इकोनॉमिस्ट इंटेलिजेंस यूनिट

कुछ मामलों में स्थिति भले ही यथावत रही हो लेकिन सकल स्कोर वर्ष 2006 और 2008 के मुकाबले पतन का शिकार हुआ है। अधिक चिंता के बिंदु तीन हैं—सरकार की कार्यप्रणाली, राजनीतिक भागीदारी और राजनीतिक संस्कृति। सरकार की कार्यप्रणाली जिस अनुपात में दोषपूर्ण होती जाएगी उसी अनुपात में लोकतंत्र के मूल्यों और उसकी संरचना में भी गिरावट आएगी। यह अच्छी बात है कि भारत नागरिक अधिकारों के मामलों में दुनिया के उच्च श्रेणी के देशों की बराबरी में है। इसलिए यदि नागरिक चाहें तो वे लोकतंत्र को श्रेष्ठतम मूल्यों से संपन्न कर उसकी स्थापना में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान कर सकते हैं। लेकिन राजनीतिक संस्कृति और गवर्नेंस की स्थिति इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा बन रही है और आगे भी बनती रहेगी। हाँ राजनीतिक तंत्र यह देखकर तसल्ली कर

सकता है कि भारत लोकतंत्र के मामले में अन्य दक्षिण एशियाई देशों के मुकाबले बेहतर स्थिति में है। उल्लेखनीय है कि वर्ष 2012 में वैश्विक लोकतंत्र सूचकांक में भारत की रैंक 38 है जबकि अन्य दक्षिण एशियाई देशों बांग्लादेश, श्रीलंका, भूटान, पाकिस्तान, नेपाल और अफगानिस्तान की डेमोक्रेटिक इंडेक्स में रैंक क्रमशः 84, 89, 107, 108, 111 और 152 है। चूंकि भारत दक्षिण एशिया की एक वरिष्ठ शक्ति है और दुनिया की उभरती हुई आर्थिक ताक़त है, इसलिए इसे ऐसे प्रतिमान स्थापित करना चाहिए जिसका अनुसरण न केवल दक्षिण एशिया बल्कि दुनिया करे। लेकिन क्या ऐसा हो पाएगा?

बहरहाल, भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने के बावजूद तमाम खामियों और चुनौतियों से गुज़र है, जिनका समाधान हाल-फिलहाल में निकलता नहीं दिख रहा।

(पृष्ठ 32 का शेष)

पर इस कहानी को ज्यादा विस्तार देने की भी ज़रूरत नहीं है। पर लोकतंत्र के बल पर उभरे आंदोलनों में एकता और फिर कुल लोकतंत्र की ताक़त तभी बढ़ेगी जब वे सभी इन प्रवृत्तियों के प्रति सचेत होंगे और एक हिस्से की जगह पूरे मुल्क की अगुवाई करने का सपना देखना होगा। अभी यह संभावना दिखाई नहीं दे रही पर यह एक ज़रूरत भी है और बहुत दूर की या मुश्किल चीज भी नहीं। पर यह भी सच्चाई है कि अगर ये ताक़तें एकजुट नहीं हुईं तो वे ताक़तें इन्हें ही नहीं हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था को ही

मार देंगी जो नाम तो लोकतंत्र का लेती हैं लेकिन काम बाज़ार का करती है। स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा के निजीकरण के साथ इसी मंडल और मंदिर से निकली ताक़तों के एक हिस्से ने किस आसाने से दोस्ती कर ली यह साफ दिखा है। उच्च संस्थाओं में मंडल लागू भी हो गया, उसके लिए अतिरिक्त साधन जुटाने के नाम पर ख़र्च भी हो गया और सारे संस्थान पुराने स्वरूप में बने रहे यह चमत्कार ऐसी दोस्ती ही करता है। जब समाज में मंडल का मंत्र चलता है तब हुए बदलाव और आईआईएम-आईआईटी में हुए बदलाव की तुलना कर लीजिए यह फ़र्क बहुत साफ़

भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति इसके लिए चुनौती भी बन रही है और एक बड़ा ख़तरा भी। यदि अर्थशास्त्री क्रिस्टिया फ्रीलैंड द्वारा अपनी पुस्तक प्लूटोक्रेंट्स : द राइज़ ऑफ़ द न्यू ग्लोबल सुपर-रिच में लिखे गए शब्दों में कहें तो उन्नीसवीं सदी में अमरीका में आए सुनहरे युग की आवृत्ति भारत में 1990 के दशक के बाद हुई है और यह युग अपना विस्तार करता जा रहा है। अमरीका में द्वितीय सुनहरे युग का आगमन हो गया है और भारत का प्रथम सुनहरा युग उससे घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। जिसे क्रिस्टिया अमरीका का प्रथम सुनहरा युग कह रही है। उसी युग में विलियम फासेज के शब्दों में ‘अमरीका को अमरीका बनाने में एक पूरी नस्ल समाप्त हो गई तो क्या भारत अब उसी प्रक्रिया से गुज़र रहा है?’ फिलहाल तो इतना ही कहा जा सकता है कि भारत में आज जो विकृत वैश्वीकरण का चेहरा उभर रहा है, वह हमारे किए-धरे का ही परिणाम है। इससे हमारे वे मूल्य मर रहे हैं जो गांधी, लोहिया, जय प्रकाश नारायण या अंबेडकर ने इस देश को दिए थे और वे एक व्यक्ति, एक मूल्य की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध थे। परंतु आज का राजनीतिक तंत्र और उसकी संस्कृति ने उन्हें कुछ नारों तक में सीमित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र भटक गया। निष्कर्ष यह है कि जब अभी लोकतंत्र ही भटका हुआ है तो ‘समावेशन’ की प्रक्रिया कैसे संभव हो सकती है। □

(लेखक आर्थिक एवं विदेश मामलों के जानकार हैं।
ई-मेल : raheessingh@gmail.com)

दिख जाएगा। बाज़ार की डरावनी ताक़त का पिटारा यहां खोलने का कोई लाभ नहीं है लेकिन यह कहने में हर्ज नहीं है कि अब वह सारी दुनिया में लोकतंत्र के लिए पैदा बेचैनी और आकर्षण पर भारी नहीं पड़ सकता। वह लोकतंत्र की पूँछ पकड़कर अपना काम निकालने की कांश ज़रूर कर रहा है, अपने कुकर्मों पर परदा डालने का प्रयास कर रहा है, पर जैसे ही लोकतंत्र अपने असली रंगत में होगा वह बाज़ार के पक्ष में काम नहीं कर सकता न बाज़ार से दोस्ती रख सकता है। □

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
ई-मेल : arvindmohan2000@yahoo.com)

नया दौर → नयी चुनौतियां → श्रेष्ठ विकल्प

GS ACADEMY

ज्ञान, अनुभव एवं परिश्रम के त्रिकोण से निर्मित अतिविशिष्ट टीम के सदस्य-

नीतिशास्त्र एवं सत्य-
निष्ठा और अभिरुचि

धर्मन्द्र कुमार
PATANJAI IAS

राजव्यवस्था एवं
अंतर्राष्ट्रीय संबंध

राजेश मिश्रा
SARASWATI IAS

इतिहास एवं
संस्कृति

रजनीश राज
SIHANTA IAS

भूगोल पर्यावरण+
आपदा प्रबंधन

आलोक रंजन
DIGMANI EDUCATION

भारतीय अर्थव्यवस्था
डॉ. अखिलेश मिश्रा

विज्ञान प्रौद्योगिकी
आशीष वशिष्ठ

प्रशासन के खंड के लिए एक प्रख्यात लेखक, जो इस पाठ्यक्रम का आधार स्तम्भ हैं।

**GS
Mains**

**GS
Foundation Course**
मुख्य एवं प्रारम्भिक परीक्षा

**Essay
—
CSAT**

B-17, 1st Floor, Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-110009
011-42875012, 011-27651250, 09873399588, 09311958009,
09899156495, 09810172345, 09999292001

YH-106/2013

वंचित वर्ग का बहिष्कार और हाशिये की स्थिति

● सुधा पट्टि

हालांकि स्वाधीनता के बाद वंचितों की स्थिति में काफी बदलाव आया है, बावजूद इसके उनके हाशिये पर रहने और बहिष्कार की स्थिति बनी हुई है, जो एक सशक्त लोकतंत्र के लिए बड़ी चुनौती है

स्वाधीनता के बाद भारत ने एक उदार लोकतंत्र अपनाया, जिसका एक लिखित संविधान है और एक संसदीय प्रणाली में अनुसूचित जाति और दलित कहे जाने वाले ऐतिहासिक रूप से वंचित वर्ग को विशिष्ट व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकार दिए गए हैं। जबाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक वृहत सामाजिक बदलाव के जरिये संपन्न समाज के लोकतांत्रिक रूपांतरण की प्रतिबद्धता भारतीय विकास नीति का अहम हिस्सा रहा है। हालांकि छह दशक से भी ज्यादा लंबी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बावजूद दलित अभी भी हाशिये पर हैं और वंचितों के शिकार हैं, जिसके मूल में असमानता और सामाजिक भेदभाव है। जहां ग्रामीण देश में वंचित समाज के लिए बड़ी अयोग्यता साबित हुई है, वहीं जाति ने असमानता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जाति व्यवस्था में हर जाति के लिए जन्म आधार पर तय किए गए सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों में बदलाव की सीमाओं ने भी कई किस्म की वंचनाओं को जन्म दिया है। प्रख्यात नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने भी इस बात को इंगित किया है कि कैसे खासकर पूरे एशिया में सामाजिक बहिष्कारों की वजह से वंचनाओं ने जन्म लिया और व्यक्तिगत

अवसरों की सीमाएं बांध दी गईं। एडम स्मिथ के मार्गदर्शक वंचितों की व्याख्या 'लोक जीवन में बिना शिक्षक भाग लेने की असमर्थता' का हवाला देते हुए कहते हैं कि यह सामुदायिक जीवन में भागीदारी के अधिकारों से उपजी एक किस्म की वंचना है। सामाजिक संबंधों से बहिष्कार दूसरे क्षेत्र जैसे शिक्षा, रोजगार और बाजार से वंचित होने से भी जुड़ा है और यह क्षमताओं से वंचित करना ही है। इससे अवसरों की सीमा बंध जाती है।

यह तथ्य सामने आया है कि हालांकि स्वाधीनता के बाद वंचितों की स्थिति में काफी बदलाव आया है, बावजूद इसके उनके हाशिये पर रहने और बहिष्कार की स्थिति बनी हुई है, जो एक सशक्त लोकतंत्र के लिए बड़ी चुनौती है। ऐतिहासिक दौर से ही दलितों को शिक्षा प्रणाली, संपत्ति का स्वामित्व जैसे भूस्वामित्व से वंचित किया गया और उन्हें खास व्यावसायिक गतिविधियों की सीमाओं में बांधकर सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों से वंचित रखा गया। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जाति की लगभग 16.66 करोड़ की आबादी का 16 फीसदी पांच राज्य- उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में है। उनकी आबादी के हिसाब से शहरी आबादी का घनत्व काफी कम है

जो उनके पिछड़ेपन और जीवनयापन के लिए पारंपरिक व्यवसायों पर निर्भरता दर्शाती है। इस बड़े समुदाय में भूमि, श्रम और पूँजीगत भेदभाव के साथ उनकी पसंद के व्यवसाय में भागीदारी अभी भी बहुत कम है। इनमें से अधिकांश दिहाड़ी मजदूर हैं और कुल 41 फीसदी ग्रामीण दिहाड़ी अनुसूचित जाति के श्रमिकों में से एक तिहाई के पास ही जमीनें हैं। हिंदी प्रदेशों में सन् 1961 से 2001 के बीच दलितों में 45 फीसदी साक्षरता की अपेक्षा कुछ दशकों में इस प्रतिशत में कुछ इजाफा हुआ है, लेकिन दलितों और अन्य लोगों में अब भी यह अंतर काफी बना हुआ है। यह दलित औरतों में खासकर ज्यादा ही है। हालांकि सन् 1990 आते-आते अनुसूचित जाति के लोगों में साक्षरता दर 17 फीसदी तक बढ़ी और शहरी-ग्रामीण अंतर के साथ-साथ लिंग भेद भी कम हुआ। हालांकि साक्षरता बढ़ी है, बावजूद इसके अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि अनुसूचित जाति के बच्चों की तुलना में अन्य जाति के बच्चों के स्कूलों में दाखिले में बड़ा अंतर है और स्कूल छोड़ने का प्रतिशत अभी भी अनुसूचित जाति के बच्चों में ज्यादा है। दलित बच्चों में प्राथमिक स्तर के स्कूलों में सन् 1990-91 से लेकर 1999-2000 के बीच दाखिले का प्रतिशत भी

सकल जनसंख्या की तुलना में कम हुआ है। इसी तरह उच्च शिक्षा के साथ-साथ तकनीकी और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में भी दलितों के दाखिले का प्रतिशत संतोषजनक नहीं है और आरक्षित सीटें भी खाली रह जाती हैं।

सामाजिक परिमंडल में भी दलितों को अभी भी बहिष्कार और वंचना झेलनी पड़ रही हैं। उनके निवास गांव से बाहर और शहरों में द्विग्यायों में हुआ करते हैं, जहां सड़क, पेयजल, स्वच्छता और प्राथमिक स्वास्थ्य की मूलभूत आवश्यकताओं से भी उन्हें वर्चित रहना पड़ता है। शर्मनाक पहलू यह है कि सन् 1993 में मैला ढोने की प्रथा को दंडनीय बना देने के बावजूद इनमें से अधिकांश अब भी इस काम को करने के लिए मजबूर हैं। अभी भी 80 हजार से भी अधिक मैला ढोने वाले लोग हैं, जिसके लिए नगर निगम और राज्य सरकार जिम्मेदार हैं, क्योंकि 12 राज्यों ने इस अधिनियम को लागू ही नहीं किया है।

जहां स्वाधीनता के बाद स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, वहीं कुछ राज्यों में यह समस्या अब भी बनी हुई है। स्वातंत्र्योत्तर काल में स्थिति में बदलाव के कारक रहे हैं। भेदभाव के खिलाफ़ संरक्षण, पूँजीवादी विकास और प्रतिस्पर्धी राजनीति। संविधान में वर्णित भेदभाव के खिलाफ़ संरक्षण अनुसूचित जाति के लोगों को समाज और राजनीति में समावेशीकरण सुनिश्चित करता है, भागीदारी को बढ़ावा देता है और भेदभाव के खिलाफ़ सुरक्षा देता है लेकिन समाज की असमान आर्थिक संरचना, जो स्वतंत्रता के बाद प्राप्तियां के असंतुलित वितरण के रूप में सामने आई, उनमें विकास की एक पूँजीवादी प्रणाली बनी रही। जिसका अर्थ यह था कि एक खास वर्ग लाभान्वित होता रहा और बड़ी संख्या ग्रीब हाशिये पर बने रहे और अवसरों की उपलब्धता उनके लिए सीमित ही रही। मार्क गैलेंटर तक़ देते हैं कि भेदभाव के खिलाफ़ संरक्षण के बिना ख़ासकर स्वाधीनता के बाद के कुछ सालों तक अनुसूचित जाति के लोग व्यवस्था से बाहर ही बने रहे आर वे सामाजिक भागीदारी हासिल नहीं कर पाए।

सन् 1990 के बाद भेदभाव के खिलाफ़ संरक्षण पर बहस-मुबाहिसों के तौर-तरीकों में बदलाव आया है। वैश्वीकरण के साथ-साथ एक छोटा, किंतु प्रभावशाली, शिक्षित और

मध्यवर्गीय दलित बौद्धिकों-कार्यकर्ताओं की पैठ राजनीति में बढ़ी है। उनका तक़ है कि आर्थिक उदारीकरण के दौर में राज्यों में नौकरियों के अवसर कम हुए हैं। इनमें से कुछ का तक़ है कि नौकरियों के अवसर देने वाले और तेज़ी से बढ़ते निजी क्षेत्र में आरक्षण की सीमा बढ़ाई जाए, जबकि कुछ का मत है कि आपूर्तिगत वैविध्य के अमरीकी मॉडल की तरह ठोस क्रदम उठाए जाएं, जैसा कि जनवरी 2002 में भोपाल सम्मेलन में चर्चा की गई थी। हाल के कुछ अध्ययनों का सुझाव है कि भारत में अपेक्षाकृत कम शोध किए गए क्षेत्र, वैश्वीकरण के दौर में उच्च शिक्षा और निजी नौकरियों के बाजार, इसका स्वरूप और गुणों पर दलित भेदभाव के अंतर्गत पड़ने वाले प्रभावों पर व्यापक बहस कराई जानी चाहिए।

एक ओर जहां दलितों की आर्थिक स्थिति में तेज़ी से सुधार हुआ है, वहीं समाज के अन्य वर्गों में असमानताएं अभी भी मौजूद हैं। प्रतिस्पर्धी राजनीति के साथ-साथ पूँजीवादी विकास ने जहां जाति प्रणाली को कमज़ोर किया है, वहीं इसने दलितों के बीच ही कई किस्म की असमानताओं को जन्म दिया है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संस्थान की 1999-2000 की रिपोर्ट से खुलासा हुआ है कि अनुसूचित जाति की महज 29.90 ग्रामीण आबादी ही कुछ हद तक कृषि भूमि और गैर-भूमि पूँजी हासिल करने में सफल रही है। सन् 1999-2000 के दौरान अनुसूचित जाति के 75 फीसदी परिवार भूमिहीन कृषि श्रमिक के रूप में चिह्नित किए गए थे। जिनके पास ज़मीनें थीं, वे भी काफी कम और अपर्याप्त थीं। उनमें से भी अधिकांश परिवारों की आय काफी कम थीं, उनका उपभोग बहुत कम था और 35.43 परिवार ग्रीबी रेखा के नीचे थे। अन्य पिछड़ी जाति के लोगों के ताक़तवर होने के कारण ज़मीनों से उनका रिश्ता फायदेमंद नहीं था।

दलितों का एक वर्ग अभी भी जातिगत व्यवसाय जैसे कृषि के साथ बुनकरों की श्रेणी में है। पूँजीवादी प्रणाली ने उनके लिए अवसर खोले हैं, जिनकी दक्षता बाजार के अनुकूल है। शहरी इलाक़ों के दलित संगठित और असंगठित क्षेत्रों में दुकानों पर, छोटे उद्यमों में और कुछ निजी क्षेत्रों में अच्छी नौकरियों में लगे हैं लेकिन ऐसे लोगों की संख्या काफी

कम है। संगठित क्षेत्र उद्यम के राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट बताती है कि किस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था में कमज़ोर वर्ग हाशिये पर हैं। ऐसे श्रमिक जिनके पास रोज़गार नहीं हैं एवं सामाजिक सुरक्षा नहीं है उनकी संख्या कुल कार्यरत श्रमिकों का 92 फीसदी है और सामाजिक पहचान, गंवई निवास और शिक्षा के आधार पर उनसे भेदभाव अब भी मौजूद है। रिपोर्ट यह स्पष्ट करती है कि इन श्रमिकों में से अधिकांश अनुसूचित जाति-जनजाति से आते हैं।

स्वतंत्रता के बाद यह सोचा गया था कि त्वरित आर्थिक विकास के साथ-साथ दलितों के साथ जातिगत आधारित अत्याचार खत्म हो जाएंगे जबकि 1970 के बाद दो स्थितियां सामने आई हैं। जाति आधारित अपराधों की संख्या में तेज़ी से इजाफ़ा हुआ है और इनमें से कई अपराध अपेक्षाकृत विकसित राज्यों जैसे हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में दर्ज किए गए हैं। दूसरा, रीति-रिवाजों के अत्याचारों की जगह जाति आधारित अत्याचार जैसे बलात्कार, दलितों को वोट देने से वर्चित करना, उनके मकान जला देना, औरतों को बेआबरू कर गांवों में घुमाना आदि वारदातों में इजाफ़ा हुआ है। आर्थिक स्थिति सुधरने के साथ ही साथ दलितों के खिलाफ़ अत्याचार भी बढ़े हैं, इर्ष्या की भावना बढ़ी है, जिसका ज्वलंत उदाहरण खैरलांजी है। हरियाणा के जाति पंचायतों की सबसे ज्यादा शिकार दलित औरतें हुई हैं। सन् 2002 में यहां दलितों के साथ अत्याचार के 33,507 मामले दर्ज किए गए। अनुसूचित जाति-जनजाति अत्याचार निरोधक अधिनियम 1989 से कोई मदद नहीं मिली है और संघर्ष बढ़ा ही है। अनुसूचित जाति-जनजाति राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट 1990 के अनुसार सन् 1980 के बाद अत्याचारों के अधिकांश मामलों की जड़ में सामाजिक और सांस्कृतिक कारण होने के बजाय विशुद्ध रूप से राजनीतिक और आर्थिक कारण रहे हैं। अध्ययन बताते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि छुआछू धूरी तरह खत्म हो गई है।

हालांकि राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक बदलाव दर्ज किया गया है। भेदभाव के खिलाफ़ संरक्षण एक दीर्घावधि की लोकतंत्रीकरण और आर्थिक विकास प्रक्रिया है, जिसने शिक्षित, आत्मविश्वास से पूर्ण और राजनीतिक रूप से

जागरूक मध्यवर्गीय दलितों की नयी पीढ़ी विकसित की है, जो बहिष्कार और आधिपत्य की स्थिति मानने को तैयार नहीं हैं। देश के अधिकांश हिस्सों में दलित शब्द पहचान के पर्याय के रूप में उपयोग किया जा रहा है। हालांकि इसने दलितों को एक समुदाय के रूप में स्थापित नहीं किया है और अभी भी इनके अंदर उपजाति की खाई चौड़ी दिखाई देती है आर इनके विविध समूहों में हिंसा के भी उदाहरण सामने आते रहे हैं। बावजूद इसके इसका महत्व बढ़ा है, जिसने दलित पहचान, आत्मविश्वास के साथ-साथ ऊंची जातियों के अत्याचार और आधिपत्य के खिलाफ खड़ा होने का संबल भी दिया है।

यह सही है कि दलित नेताओं के बीच जागरूकता, राजनीतिक दलों के गठन और प्रतिस्पर्धी राजनीति से दलितों का सशक्तीकरण हुआ है और वे राजनीति की मुख्यधारा में प्रवेश कर चुके हैं। राजनीतिक जागरूकता का एक नया दौर देखा जा रहा है और नीचे से ऊपर तक इसका संचार हुआ है। सन् 1990 के बाद के सभी चुनावों में दलितों के बीच वोट देने का प्रतिशत लगातार बढ़ता गया है। स्वतंत्रता के बाद के युग ने दलित पार्टियों, आंदोलनों जैसे रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया, दलित पैंथर्स और अन्य छोटे दलों का उभार देखा है।

समकालीन समय में दलित उभार सन् 1980 में भारतीय मैदानी इलाकों में सर्वथा नये चरित्र और विशिष्ट गुणों के साथ देखा गया। नयी शिक्षित पीढ़ी राष्ट्रीय आंदोलनों से उपजी राष्ट्रीय निर्माण परियाजनाओं की समुचित समझ से लैस है, जो ऊंची जाति के कुलीनों द्वारा नियंत्रित किए जा रहे, उनके लिए और उनके मतलब के लिए चल रहे लोकतंत्र से बिलकुल अलहदा है। बहिष्कारों के अनुभवों और भारतीय राज्यों द्वारा दलितों के जान और माल की रक्षा में असमर्थता से उपजे भ्रम ने दलितों को आर्थिक विकास का फल चखने और छुआछूत की प्रथा से मुक्त होने का अवसर दिया है। हालांकि फिलहाल यह दलित उभार विकास के साथ वर्चित करने, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वंचना से उपजी प्रतिक्रिया के रूप में ही सामने हैं। इस उभार का एजेंडा व्यवस्था को तोड़ने का नहीं, बल्कि समाज के अंदर और राजनीति में दलितों के लिए सामाजिक न्याय हासिल करने पर आधारित है।

साक्ष्य इंगित करते हैं कि बदलाव और अतीत की स्थितियों की निरंतरता अब भी मौजूद हैं। स्वतंत्रता के बाद के भारत में व्यापक बदलाव आया है और दलितों के सामाजिक और आर्थिक हाशियकरण के उलट उनकी सामाजिक भागीदारी बढ़ी है लेकिन यह बदलाव देश के कुछ ही हिस्सों में देखा गया है और दलितों के छोटे तबकों पर ही इसका प्रभाव देखा जा रहा है। दलितों की अधिसंख्य आबादी अब भी सार्वजनिक और निजी जीवन में बहिष्कार झेल रही है, वे ग्रामीण, अशिक्षित और सामाजिक हाशिये पर हैं। यह तब हो रहा है जब हाल के वर्षों में लोकतंत्र की सामाजिक गहराई और बढ़ी है। □

(लेखिका जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सेंटर फॉर पॉलिटिकल स्टडीज की प्रोफेसर और रेकर्ट हैं। ई-मेल : jnu.sudha@gmail.com)

SHRI RAM INSTITUTE

IAS STUDY CENTRE

Personal Guidance in PUBLIC ADMN. & GS + CSAT



Special Features

- » Individual doubts clearing session every day.
- » Answer Writing Skill
- » Regular Unit wise Test
- » Special Integrated classes for those who always lacks in main exam
- » Postal Guidance available

Reserve your seat on mobile (limited seat)

Highly experienced faculties from DU, JNU, IIT & Bureaucrats

Registration & Admission open

**Office Counseling with expert from
2pm - 8pm daily
(after appointment)**

Batch Starts on 7th, 24th Aug. & 11th Sept.

**B-10, Above Bank of Maharashtra
Dr. Mukherjee Nagar, Delhi - 110 009**

**Ph: 09958635276
www.sriiasstudy.com**

YH-101/2013

युवा भारत का समावेशी लोकतंत्र

● अजित कुमार गांधी

समावेशी लोकतंत्र का एक सशक्त स्तंभ देश के युवा हैं। युवा भारत का समावेशी लोकतंत्र सतत समावेशी विकास के साथ आगे बढ़ सकता है और भारत दुनिया के सशक्त देशों की कतार में खड़ा हो सकता है

विश्व में भारत की चर्चा है और भारत देखा जा रहा है। दुनिया में संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र भारत की मानव शक्ति भी बाजार के साथ-साथ चर्चा में है। भारत की इस विश्वव्यापी चर्चा के बीच देश में राजनीतिक नेतृत्व, नीति निर्धारक और बुद्धिजीवी एक नयी अवधारणा पर चर्चा कर रहे हैं। यह अवधारणा समावेशी लोकतंत्र की है। यह उत्साहवर्द्धक विषय है। इसलिए कि विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र समावेशी लोकतंत्र आत्मसात करने की दिशा में बढ़ रहा है। उदार अर्थव्यवस्था वाली दुनिया में यह ऐतिहासिक भी है। देश की सरकार भी इसी अवधारणा को लेकर काम कर रही है और देश का नियोजन भी इसी अवधारणा के इर्द-गिर्द किया जा रहा है। एक समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कि किस तरह भारत के हर समाज में पुनर्निर्माण हो, समाज के हर तबके की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर भागीदारी बढ़े।

समावेशी लोकतंत्र क्या है? लोकतांत्रिक व्यवस्था में चल रहे देश में समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा कोई शून्यता से जुड़ी अवधारणा नहीं है। इस विषय पर लंदन के नार्थ यूनिवर्सिटी के जाने-माने प्रोफेसर, राजनीतिक चिंतक और अर्थशास्त्री टॉकीज

फोटोपुलुस ने बहस छेड़ते हुए गहन प्रकाश डाला है। उन्होंने इसकी गंभीर और स्पष्ट परिभाषा दी है। उनके मतानुसार 'समावेशी लोकतंत्र' एक व्यापक सोच है जिसका उद्देश्य हर स्तर पर नये समाज का पुनर्निर्माण है। यह जन अवधारणा है और इसका उद्देश्य यह है कि लोग स्वयं अपना निर्धारण करें यानी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्तर पर अपने कल्याण का नियमन और नियंत्रण स्वयं करें।

प्रोफेसर फोटोपुलुस की राय में समावेशी लोकतंत्र दो ऐतिहासिक परंपराओं- समाजवादी परंपरा और लोकतांत्रिक परंपरा का खूबसूरत मिश्रण है। भारत दोनों ही परंपराओं का वाहक रहा है। आज भी हम दुनिया की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं। हमारी अर्थव्यवस्था वर्षों समाजवादी पगड़ी पर चली है लेकिन हमने 21वीं सदी के दस्तक से पहले ही उदार व्यवस्था को भी अपना लिया।

समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा विश्वव्यापी रूप ले रही है क्योंकि दुनिया की शासन व्यवस्था में सहभागिता और भागीदारी की इच्छा बलवती हो रही है। भारत में भी भागीदारी की भावना को लेकर उत्सुकता बढ़ी है और शासन तथा नियोजन के स्तर पर यह प्रयास हो रहा है कि राजनीतिक,

समाजिक, आर्थिक गतिविधियों में अधिक से अधिक जनसहभागिता और जनभागीदारी हो, राजनीतिक क्षेत्र में भागीदारी के साथ-साथ विकासमूलक नीतियों और उनके क्रियान्वयन में भागीदारी, अधिकारिता, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सत्ता में भागीदारी बढ़े। भारत के नीति नियोजक इसको लेकर चिंतन कर रहे हैं कि किस तरह हर स्तर पर लोगों को संपन्न बनाया जाए और इस प्रयास में किस तरह लोग सम्मिलित हों।

भारत में समावेशी लोकतंत्र की चर्चा का समय बेहद दिलचस्प है। हम ऐसे समय में समावेशी लोकतंत्र को आत्मसात करने का प्रयास कर रहे हैं जब हमारी युवा आबादी उभर रही है। इसी उभरती युवा आबादी पर दुनिया की नज़र है। यह भारत की शक्ति है मानव शक्ति। इससे भारत को जनसांख्यिकी लाभ मिलने जा रहा है। जनसंख्या विशेषज्ञ और अर्थशास्त्रियों का मानना है कि युवा आबादी के कारण भारत की विकास संभावनाएं अधिक हैं। सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धिदर में यह आबादी महत्वपूर्ण योगदान करने वाली है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने दो वर्ष पहले यानी 2011 में कहा कि देश के वार्षिक विकास दर में यह शक्ति अगले दो दशकों तक अर्थव्यवस्था को मजबूती देती रहेगी।

आने वाले दशक भारत के होंगे। भारत के जनसांख्यिकी लाभ के बाबत विश्व बैंक का कहना है कि पिछले 2000 में भारत, ब्राज़ील और चीन की युवा आबादी क्रीब 34 प्रतिशत थी। तब जर्मनी और अमरीका की युवा आबादी 28 प्रतिशत से भी कम थी। ऐसा अनुमान है कि 2020 में औसत भारतीय की उम्र 29 वर्ष होगी जबकि चीन और अमेरिका के लोगों की तब औसत आयु 37 साल और यूरोप तथा जापान के लोगों की औसत आयु 45 वर्ष। यह जनसांख्यिकी प्रक्रिया भारत में विशाल जनशक्ति पैदा करेगी जिसका योगदान राष्ट्रीय वृद्धि और समृद्धि में होगा। भारत की यह युवा आबादी आंकड़ा संबंधी तथ्यों से कहीं अधिक भारत के लिए राजनीतिक और सामाजिक परिणाम देगी। समावेशी लोकतंत्र के लिए भारत की यह युवा आबादी ऐतिहासिक उत्सुकता पैदा करेगी।

यह गर्व की बात है कि जनसांख्यिकी लाभ हासिल होने से पहले ही भारत ने अपनी युवा शक्ति को लोकतांत्रिक दृष्टि से अधिकार संपन्न बनाया है। युवा शक्ति को यह अधिकारिता लोकतंत्र की सबसे बड़ी ताक़त प्रतिनिधि चुनने की शक्ति से मिली है। भारत के युवा प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने यह ताक़त तब दी जब उन्होंने 18 वर्ष की आयु के लोगों को मताधिकार दिया। यह कोई छोटी बात नहीं। इसके बूते भारत कम से कम 2020 तक यह दावा कर सकता है कि दुनिया के सबसे अधिक युवा विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र को मजबूत बना रहे हैं। यह देखने लायक होगा जब 2014 में भारत के 10 करोड़ युवा पहली बार मतदाता बन वोट डालेंगे।

लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भारतीय युवाओं की भागीदारी के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि विश्व स्तर पर जहां राजनीति में युवाओं की रुचि कम हो रही है वहीं भारतीय युवा राजनीति में काफी दिलचस्पी दिखाते हैं। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, औपचारिक-अनौपचारिक सभी तरह की राजनीति में युवाओं की भागीदारी बढ़ रही है। शिक्षा स्तर और मीडिया के फैलाव ने लोकतंत्र और राजनीति को लेकर युवाओं की सकारात्मक रूप से सोचने की शक्ति को प्रभावित किया है। लोकतंत्र में युवा सहभागिता के कारण ही यह संभव हो सका है कि निचले स्तर (ग्राम पंचायत

स्तर) पर शासन व्यवस्था में यानी पंचायती राज संस्थानों में निर्वाचित लोगों में 70 फीसदी युवा हैं। इन युवाओं के आदर्श, उनकी प्रेरणा, उनकी ऊर्जा पंचायत स्तर तक पारदर्शिता, कुशलता और सुशासन लाने में कारगर साबित हो रही हैं। विकास प्रक्रिया में इस तरह की भागीदारी एचआरी/एडस, हिंसा तथा अपराध जैसी बढ़ रही चुनौतियों का सामना करने में सक्षम होगी और युवाओं में एका के साथ असमानता दूर करने में सहायक होगी। यही समावेशी लोकतंत्र की दिशा में सशक्त क़दम साबित होगा।

युवा शक्ति भारत में समावेशी लोकतंत्र के आर्थिक पक्ष को सबल बनाएगी। यह इस शक्ति की अपार संभावनाओं के समुचित दोहन पर भी निर्भर करता है। भारत की युवा आबादी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भागीदार मात्र नहीं। इसकी आर्थिक इच्छाएं भी हैं। इसके सपने, इसकी आशाएं विकास से जुड़ी हैं, समावेशी विकास से। युवा शक्ति की आशाओं, अपेक्षाओं को देख कर ही नियोजन भी किया जा रहा है। नियोजन में भारत की इस उभरती ताक़त की अनदेखी असंभव है। निश्चत तौर पर नियोजन में युवा शक्ति को उत्पादक रोज़गार से जोड़ने की कवायद भी हो रही है। 12वीं पंचवर्षीय योजना का एक अहम हिस्सा है बढ़ती कामकाजी आबादी को उत्पादक और लाभकारी रोज़गार देने का। हमारी यह आबादी असंगठित क्षेत्र में भी है। यह क्षेत्र देश के सकल घरेलू उत्पाद में लगभग 60 प्रतिशत का योगदान करता है। इसे मजबूत बना कर ही समावेशी विकास का वैसा ढांचा खड़ा किया जा सकता है जो समावेशी लोकतंत्र के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ करे। निश्चित रूप से इसी उद्देश्य से योजना आयोग ने 12वीं पंचवर्षीय योजना में प्रणालीबद्ध तरीके से इस व्यापक समूह को कामकाज से जोड़ने की नीति बनाई है।

समावेशी लोकतंत्र स्थापित करने के लिए भारतीय युवा शक्ति कौशल विकास चाहती है। हर युवा की चाह है कि वह किस तरह अपने कौशल को विकसित करे। यह चाह इसलिए भी है कि वह समझ रहा है कि नये भारत में भुखमरी और गरीबी से बाहर निकलने का रास्ता कौशलसंपन्नता ही है। युवा आबादी यह समझ रही है कि कौशल और ज्ञान किसी

देश की आर्थिक वृद्धि और समाजिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। युवाओं की इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए नीति नियोजक भी इस नीतीजे पर पहुंचे हैं कि कौशल और ज्ञान के बेहतर स्तर को हसिल करने पर ही देश काम की चुनौतियों से निपट सकेगा और अवसरों को हकीकत में सकार कर सकेगा।

कौशल विकास के पक्ष को सरकारी समर्थन देने की कोशिश हो रही है लेकिन इस दिशा में युवा शक्ति की अपेक्षा कॉरपोरेट घरानों, निजी शिक्षण संस्थानों से भी है। उनके सहयोग के बिना समावेशी लोकतंत्र में युवा योगदान की परिकल्पना नहीं की जा सकती लेकिन चिंता की बात यह है कि युवाओं को कौशल संपन्न बनाने में अभी कॉरपोरेट जगत पूरी तरह तैयार नहीं है। राष्ट्रीय कौशल विकास निगम का लक्ष्य निजी क्षेत्र के सहयोग से 2022 तक 15 करोड़ कौशल संपन्न श्रम शक्ति तैयार करना है।

भारत के लिए सुखद बात यह है कि नीति नियोजकों की तरह देश के युवा वर्ग में भारत की चुनौतियों को लेकर एक किस्म की आम सहमति है। विज्ञान, टेक्नोलॉजी, चिकित्सा, शिक्षा, कला, सिनेमा आदि सभी क्षेत्रों से जुड़े युवा अपने देश की चुनौतियों को लेकर चिंतित हैं। सहमति के साथ चिंतित हैं। युवाओं की यह चिंता इसलिए है कि वह भारत को मात्र लोकतांत्रिक भारत के रूप में देखना नहीं चाहते बल्कि उनकी इच्छा है कि देश में समावेशी लोकतंत्र हो और इस लक्ष्य की प्राप्ति में आ रही बाधाएं दूर हों। उनकी चिंता में क्षेत्रीय सामाजिक और लैंगिक असमानता खत्म करने की बात शुमार है। देश के युवा चाहते हैं कि समावेश संबंधी दृष्टिकोण केवल गरीबी उन्मूलन के पारंपरिक लक्ष्य तक सीमित न रहे बल्कि अवसर की समानता के साथ-साथ समाज के सभी वर्गों के लिए आर्थिक और सामाजिक सक्रियता के मामले में भी रखी जाए। समावेशी लोकतंत्र की तरफ बढ़ रहे भारत के लिए यह सुखद है कि युवा वर्ग अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक और महिलाओं के लिए सकारात्मक पहल के पक्ष में हैं। युवा वर्ग में कहीं भी इस तथ्य पर मतभेद या असहमति नहीं कि सामाजिक और राजनीतिक बाधाओं के बगैर सभी को समानता का अवसर मिलता

रहे। युवा वर्ग में इस पर भी सहमति दिखती है कि विकास प्रक्रिया में हाशिए पर खड़ी आबादी को कौशल विकास में विशेष अवसर प्रदान किए जाएं।

भारत में समावेशी लोकतंत्र की अनिवार्यताएं काफी हद तक युवाओं से जुड़ी हैं। युवाओं की अधिकारिता, उनकी शिक्षा, सेहत, उनके लिए लैंगिक न्याय, निचले स्तर पर स्वशासन में उनकी भागीदारी जैसे मसले समावेशी लोकतंत्र के लिए आवश्यक हैं। 12वीं पंचवर्षीय योजना में इस चिंता को शामिल किया गया है। 12वीं योजना में युवाओं के लिए राष्ट्रीय मूल्य, सामाजिक सौहार्द, अधिकारिता, शिक्षा, स्वास्थ्य, लैंगिक समानता, पर्यावरण, सामुदायिक सेवा की प्रधानता को समझते हुए इन बातों पर विशेष ध्यान देने की बात कही गई है। युवा शक्ति को आगे बढ़ाने और देश में इस शक्ति की क्षमता का भरपूर दोहन के लिए इन विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है। 2017 में पंचवर्षीय योजना पूरी होगी। अभी भारत के पास युवा शक्ति के सामर्थ्य के दोहन के लिए समय है। इस कार्य में युवाओं का सहयोग लेना आवश्यक है।

भारत जब जनसांख्यिकी लाभ लेने की हालत में है तब भी शिक्षा के क्षेत्र में क्षेत्रीय असंतुलन है। इससे जनसांख्यिकीय लाभ पूरे

देश को नहीं मिल सकता। देश में प्रशिक्षित लोगों की 60 प्रतिशत से अधिक आबादी दक्षिणी और पश्चिमी राज्यों केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और गुजरात जैसे राज्यों में है। इस खार्ड को पाठ कर ही समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा को मजबूती दी जा सकती है।

समावेशी लोकतंत्र के लिए युवा शक्ति को आधी आबादी से जोड़कर देखना भी आवश्यक है। समावेशी लोकतंत्र के सपने को तभी साकार किया जा सकता है जब महिला सशक्तीकरण के लिए आर्थिक, सामाजिक और कानूनी आयामों को धरातल पर लाया जाए। सामाजिक विकास के मामले में तो हम आगे बढ़ रहे हैं लेकिन मानव सूचकांक मामले में विश्व में हमारी स्थिति अच्छी नहीं है। 170 देशों की कतार में हम 127वें पायदान पर खड़े हैं।

युवा आबादी की बात करते समय ग्रामीण भारत की भी बात करनी होगी। शहरी युवा आबादी की तुलना में ग्रामीण युवा-युवतियों की आबादी अधिक है। ऐसा नहीं कि इनकी क्षमता के दोहन के अवसर नहीं हैं। कृषि उत्पादन, प्रसंस्करण और विपणन के क्षेत्र में इनकी क्षमताओं का लाभ उठाया जा सकता है। यह सामान्य भ्राति है कि शिक्षित युवाओं के लिए किसानी नहीं है। यह धारणा आधुनिक

नहीं। कृषि क्षेत्र जोखिमभरा और अलाभकारी तब समझा जाता था जब किसान परंपरागत खेती पर निर्भर रहा करते थे। आज नयी टेक्नोलॉजी के आने तथा बहुफसलीय प्रणाली के जोर पकड़ने के बाद तस्वीर बदली है। युवाओं के लिए कृषि व्यापार उभरता क्षेत्र है। प्रगतिशील किसान जब से नयी प्रौद्योगिकी को अपना कर नया अनुभव हासिल करने लगे हैं तब से कृषि क्षेत्र लाभकारी बनता जा रहा है। कृषि क्षेत्र में अनेक निजी कंपनियों के प्रवेश से लगातार यह सिद्ध होता जा रहा है कि यह लाभकारी क्षेत्र है और इससे युवाओं को अछूता नहीं रखा जा सकता। ग्रामीण युवा शक्ति का दोहन इस क्षेत्र में हो तो भारत सतत विकास के साथ समावेशी लोकतंत्र को सुदृढ़ बना सकता है। □

जब हम समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा पर विमर्श कर रहे हैं तब यह कहना समुचित ही होगा कि इस समावेशी लोकतंत्र का एक सशक्त स्तंभ हमारे देश के युवा हैं। युवा भारत का समावेशी लोकतंत्र सतत समावेशी विकास के साथ आगे बढ़ सकता है और भारत दुनिया के सशक्त देशों की कतार में खड़ा हो सकता है।

(लेखक पत्रकार हैं।

ई-मेल : gandhajeet@gmail.com)

योजना आगामी अंक

सितंबर 2013

योजना का सितंबर 2013 का अंक सबके लिए शिक्षा पर केंद्रित होगा।

इस अंक का मूल्य होगा मात्र ₹ 10 ।

अक्तूबर 2013

योजना का अक्तूबर 2013 का अंक विकास, रोज़गार और ग्रामीणी पर केंद्रित होगा।

इस अंक का मूल्य होगा मात्र ₹ 10 ।

प्रिज्म (PRISM) क्या है?

प्रिज्म से तात्पर्य है अमरीकी राष्ट्रीय सुरक्षा एजेंसी (एनएसए) द्वारा शुरू किया गया निगरानी कार्यक्रम। यह एक गोपनीय ढंग से संचालित खुफिया कार्यक्रम था, जो अप्रैल 2013 में एक खबर के लीक होने के बाद प्रकाश में आया। इस खुलासे के अनुसार एनएसए को अमरीकी इंटरनेट कंपनियों के पास एकत्रित ई-मेल, वीडियो, फोटो, आवाज और वीडियो कॉल्स को 'प्राप्त' करने की अनुमति थी। खुलासे में जिन कंपनियों के नाम सामने आए हैं उनमें माइक्रोसॉफ्ट और उसका स्काइप प्रभाग, गूगल और उसका यू-ट्यूब प्रभाग, याहू, फेसबुक, एओएल, एपल भी शामिल हैं। अनुमान है कि इस कार्यक्रम को चलाने पर दो करोड़ डॉलर (एक करोड़ 30 लाख पौंड) प्रतिवर्ष खर्च होते हैं। यद्यपि एनएसए ने इसे आतंकवाद

विरोधी कार्यक्रम का एक अंग बताया है, इस प्रकार के कार्यक्रम की मौजूदगी ने साइबर जगत में निजता के हनन की चिंताओं को सामने ला खड़ा किया है।

इस कार्यक्रम के बारे में जानकारी अमरीका



की केंद्रीय गुप्तचर एजेंसी (सीआईए) के 30 वर्षीय पूर्ण कर्मचारी एडवर्ड स्नोडेन के खुलासे से मिली। स्नोडेन बाद में अमरीका

से भाग गया और उस पर सरकारी संपत्ति की चोरी, राष्ट्रीय सुरक्षा सूचना का अनाधिकृत संप्रेषण और वर्गीकृत (गोपनीय) सूचनाओं को जानबूझकर उजागर करने का आरोप लगाया गया।

वाशिंगटन पोस्ट के अनुसार एनएसए खोजबीन की शर्तों का प्रयोग कर संदिग्ध सूचनाओं की पहचान करता है ताकि वह 51 प्रतिशत विश्वस्त हो सके कि लक्ष्य विदेशी ही है। यह सुनिश्चित करने के लिए अनेक उपाय अपनाए गए हैं कि अमरीकी नागरिकों की जानकारियां न इकट्ठी की जाए। अन्य देशों के नागरिकों के संदर्भ में इस प्रकार के सुरक्षा उपायों के अभाव से अंतरराष्ट्रीय मंचों पर अच्छी-खासी बहस शुरू हो चुकी है। आलोचकों का तर्क है कि यह गैर-नागरिकों की निजता के अधिकारों का घोर उल्लंघन है। □

निताकत का क्या तात्पर्य है?

सउदी अरब के निताकत कानून के अंतर्गत स्थानीय कंपनियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि प्रत्येक 10 प्रवासी श्रमिकों पर एक सउदी श्रमिक को काम पर रखें। इस कानून के परिणामस्वरूप बिना वैध दस्तावेजों और कार्य अनुमति-पत्रों के बगैर काम कर रहे अनेक लोगों की छानबीन शुरू हो गई है। सउदी अरब काफी हद तक प्रवासी श्रमिकों पर निर्भर है।

संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में बड़ी संख्या में प्रवासी श्रमिक काम करते हैं। अनेक अवैध रूप से आए लोग भी सउदी अरब में काम कर रहे हैं। नये कानून का उद्देश्य स्थानीय सउदी लोगों को काम के अधिक अवसर प्रदान के साथ ही अवैध रूप से आए प्रवासियों पर रोक लगाना है।

हनी केनावी ने अपने आलेख 'निताकत दि न्यू लोकलाइजेशन सिस्टम फॉर जॉब्स इन दि किंगडम ऑफ सउदी अरेबिया' (निताकत सउदी अरब में रोजगार के स्थानीय करण की प्रक्रिया) में स्पष्ट किया है कि नया कानून श्रम बाजार को 41 गतिविधियों में और प्रत्येक गतिविधि को 5 आकारों-विशाल, बड़ा, मध्यम, लघु और अति लघु की अर्थात् कुल मिलाकर 205 श्रेणियों में विभाजित करता है। निताकत में इन स्थापनाओं (उद्योगों) को उसमें करने वाले स्थानीय नागरिकों के अनुपात के आधार पर उत्कृष्ट, हरा, पीला और लाल चार वर्गों में बांटा गया है। उत्कृष्ट और हरा वर्ग उन स्थापनाओं का है जिसमें स्थानीय लोगों का अनुपात सबसे अधिक है। इनको पुरस्कृत किया जाएगा। लाल वर्ग के साथ सख्ती से

पेश आया जाएगा, क्योंकि उसमें स्थानीय नागरिकों की संख्या सबसे कम होती है। पीला वर्ग, मध्यम श्रेणी का है जिसे अपनी स्थिति सुधारने के लिए समय दिया जाएगा।

इस कानून का मुख्य उद्देश्य देश में बेरोज़गारी की समस्या पर लगाम लगाना है। परंतु इससे प्रवासी श्रमिकों में घबराहट और भय व्याप्त हो गया, क्योंकि यदि वे सउदी कानून के अनुसार अपनी स्थिति को वैध रूप नहीं देते हैं तो उन्हें काम से हटाया जा सकता है। सउदी अरब में इस समय करीब 20 लाख भारतीय काम करते हैं। इस अरब देश में यमन, भारत, पाकिस्तान और फ़िलीपीन्स से आए लगभग 90 लाख प्रवासी श्रमिक काम करते हैं। □

(संकलन : हसन जिया, वरिष्ठ संपादक, योजना (उर्दू))

★ ★ ★ पिछली सफलताओं को आगे बढ़ाते हुए... ★ ★ ★



निर्माण IAS

by कमल देव (K.D.)

हिन्दू माध्यम का सर्वश्रेष्ठ संस्थान

सफलता का पर्याय

सा. अध्ययन

Mains Batch
(June, July & Oct.)

PT Batch
(Nov, Dec & Jan.)

QIP

(Quality Improvement Programme)

After PT Result

UKPSC	RAS	BPSC	UPSC →					
AIR 01 Arvind Pandey	AIR 02 Sana Siddiqui	AIR 02 Sadanand Kumar	AIR 09 Jai Prakash 2010	AIR 11 Neeraj Kr. Singh	AIR 22 Aroj Kumar 2008	AIR 33 Bhanu Chand 2009	AIR 28 Yogendra Singh 2012-13	AIR 50 Rajani Singh

गुणवत्ता, विश्वसनीयता एवं सफलता

हिन्दू माध्यम में सर्वाधिक परिणाम देने वाला संस्थान

AIR 20 PRIYANKA MIRAHJAN	AIR 28 YOGENDRA SINGH	AIR 35 NATHMAL DIDEEL	AIR 40 MANISH KUMAR	AIR 54 KANA RAM PAMI	AIR 72 AJEEV VASANT	AIR 76 RAMESH BANJAN	AIR 97 JIFAR ALI	AIR 105 AMIT PRAKASH YADAV	AIR 175 PRASHANT ANAND	AIR 50 RAJANI SINGH	AIR 52 DEEPA AGARWAL	
AIR 190 GAURAV KR. SINGH	AIR 199 SAMA PRAVEEN	AIR 227 VIHIT HANDBAWAR	AIR 252 KRISHNA KUMAR	AIR 270 CHUNA RAM JAT	AIR 287 GANGA RAM PUNIA	AIR 370 NIRESH KR. RAJPUT	AIR 380 SURENDRA LIMBA	AIR 404 PRAVEEN KABAL SRIVASTAV	AIR 407 PRATIBHA SINGH	सामान्य अध्ययन, CSAT एवं साक्षात्कार में निर्माण का कोई विकल्प नहीं		
AIR 408 DHIRAJ KUMAR	AIR 410 MUKESH KR. BHAMOO	AIR 438 SADIQ AHMED	AIR 458 RITESH KR. TRIPATHI	AIR 459 JAGDISH SONKAR	AIR 494 PRABHAKAR PRABHAT	AIR 505 ASHOK KR. SUTHAR	AIR 509 SUDHAKAR VIRMA	AIR 528 SUUDHIR SINGH	AIR 537 MONA JAIN	AIR 539 ANAND MOHAN	AIR 555 RITUJAI RAGHUVANSHI	AIR 574 ASHISH CHAURASIA
AIR 609 AMAR PAL	AIR 630 HEERA RAM CHOUDHARY	AIR 652 RAVINDRA KR. MANDER	AIR 679 MANOJ KUMAR	AIR 686 ANKIT KR. SINGH	AIR 689 SHANKAR LAL	AIR 693 RAM SINGH GURJAR	AIR 700 AMT KR. SNGH	AIR 722 MD. MUSTAQE	AIR 723 BHAGIRATH SINGH MEENA	AIR 726 MANISH KR. CHAUDHARY	AIR 735 VIVEK ANAND MAURYA	AIR 744 ROHIT MALVIYA
AIR 747 DHANLAXMI CHAURASIA	AIR 748 SAKET RANJAN	AIR 752 DINESH KR. FULDIYA	AIR 753 PRIYANKA MEENA	AIR 756 MADAN MOHAN MEENA	AIR 768 MRITUNJAY SAINI	AIR 788 KRISHAN KUMAR	AIR 799 MCNIKA PAJWARI	AIR 809 SIDDHARTH	AIR 824 VINOD KR. LAXKAR	AIR 830 SUNNY KACHHWAHA	AIR 847 BALRAM MEENA	AIR 950 BHAWAR LAL MEENA
AIR 865 NARENDRA KUMAR	AIR 892 SURENDRA KR. MEENA	AIR 895 ABHISHEK SINGH	AIR 897 PRAVEEN KUMAR	AIR 904 KIRAN SHANKAR MEENA	AIR 910 RAMESH KR. VERMA	AIR 933 DHARM RAJ VERMA	AIR 943 AJIT KR. MEENA	AIR 975 DR. RAJESH KR. MEENA	AIR 981 SAURABH JARAWAL	AIR 982 VIJAY	AIR 990 HARIOM MEENA	AIR 996 ASHUTOSH KR. SINGH

Head Office : 12, Mall Road, Hudson Line, Kingsway Camp, Delhi-110009. Ph.: 011-47058219
Classroom : 624, 11th Floor, Mukherjee Nagar (Near R Rita Cinema), Delhi-09. Ph.: 09990765484
Branch Off. : 2/3, Aziz Complex, New Khedapati Colony, Gwalior (MP). Ph. : 09753002277-88

Ph.: 47058219, 9990765484, 9891327521

E-mail : nirmanias07@gmail.com - www.nirmanias.com

YH-104/2013

समावेशी लोकतंत्र : आदर्श और यथार्थ

● नामदेव

असलियत में हम सभी न पूरी तरह सामंती व्यवस्था में जी रहे हैं और न ही पूर्णतः आधुनिक, औद्योगिक व्यवस्था में। हम कहीं-न-कहीं इन दोनों ही व्यवस्थाओं के बीच जी रहे हैं।
यह वर्तमान भारतीय समाज का अंतर्विरोध और यथार्थ है

भारतीय संस्कृति हमेशा उदार व सहिष्णु रही है। इसी कारण उसको साझी संस्कृति के नाम से जाना जाता है। भारतीय संस्कृति की एक और बड़ी विशेषता यह रही है कि वह कभी किसी पर हावी होने की कोशिश नहीं करती, सबको अपने ढंग से जीने की आजादी देती है। भारत विभिन्न संस्कृतियों का बाला देश है। भारतीय लोकतंत्र अपने समावेशी प्रवृत्ति के कारण, राष्ट्र के सभी व्यक्तियों को अपने धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज के अनुसार जीवनयापन की सुरक्षा प्रदान करता है। प्रत्येक समुदाय चाहता है कि उसकी सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रहे। भारत अत्यधिक विविधताओं वाला देश है। अतः समावेशी लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता ही वह नीति है जो पूरे देश में लागू की जा सकती है जिससे पूरा देश एक सूत्र में बंध जाए। स्वतंत्र भारत में समावेशी लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता की मौजूदगी के कारण ही सभी जातियों, धर्मों और समुदायों को समान रूप से आदर किया जाता है। वर्तमान समावेशी भारत के निर्माण के पीछे दो दूरदर्शी शासकों का रचनात्मक योगदान रहा है जिसमें से एक थे मुगल सम्राट अकबर और दूसरे थे स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू।

अकबर बहुत गहरी दूरदृष्टि वाला शासक था। 16वीं शताब्दी में अकबर ने 'सुलह-ए-कुल' की नीति की घोषणा कर दी थी, जिसका अर्थ होता है 'सभी धर्मों के लिए सार्वभौमिक सहिष्णुता।' उस समय यूरोप में धर्म के नाम पर कल्त्तेआम हो रहा था। कैथोलिक प्रोटेस्टेंट को तथा प्रोटेस्टेंट कैथोलिक लोगों का कल्त्तेआम कर रहे थे, जबकि कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट मिलकर यहूदियों का। ठीक इसी तरह से भारत में भी सन् 1947 में धार्मिक उन्माद पैदा हुआ और लोग जानवरों की तरह एक-दूसरे के रक्तपिण्डासु हो गए। इसी दौरान पाकिस्तान ने अपने-आपको इस्लामिक राष्ट्र घोषित कर दिया।

इधर भारत में भी सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा जवाहरलाल नेहरू और उनके सहयोगियों पर दबाव डाला गया कि भारत को भी अब हिंदू राष्ट्र घोषित किया जाना चाहिए। लेकिन नेहरूजी की दूरदृष्टि थी कि उन विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने संयम रखा और यह घोषणा जारी की कि भारत एक हिंदू राष्ट्र न होकर, एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होगा और आगे संविधान में संशोधन कर इसमें धर्मनिरपेक्षता का समावेश किया गया। इसी कारण आज हमारा देश, पड़ोसी देशों की तुलना में अधिक

स्थिर और मजबूत है।

आमतौर से मुस्लिम शासकों पर यह एकतरफा आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने समावेशी संस्कृति को अवरुद्ध किया था जो कि पूरी तरह सच नहीं है। इस संदर्भ में पूर्व न्यायाधीश मार्केण्डेय काट्जू ने बहुत तार्किक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिससे मुस्लिम शासकों के समावेशी नीति और रुझान के सकारात्मक पहलू का पता चलता है। मसलन शुरुआती मुस्लिम आक्रमणकारियों ने भारत में हिंदू मंदिरों को तहस-नहस कर दिया था। उदाहरण के लिए, मुस्लिम आक्रांत मोहम्मद गजनी ने सोमनाथ के मंदिर को लूटकर उसे तहस-नहस कर दिया था। यह सत्य है, पर बाद में उसके बंशज भारत के विभिन्न भागों में यहां के स्थानीय राजा के तौर पर शासन करने लगे और धीरे-धीरे वे हिंदू मंदिरों को अनुदान देने लगे और साथ-ही-साथ हिंदू उत्सवों- होली और दीवाली में भी शामिल होने लगे। उदाहरण के तौर पर बाबर एक मुस्लिम आक्रमणकारी था, लेकिन अकबर नहीं, क्योंकि अकबर का जन्म भारत में हुआ और बहुत हद तक वह एक भारतीय था। अब तक बाहरी मुस्लिम आक्रमणकारियों के बंशज भारत के अलग-अलग भागों में अपना

साम्राज्य स्थापित कर यहां के स्थानीय राजा बन चुके थे और इनके राज्यों की 80 से 90 प्रतिशत जनता हिंदू थीं। यदि ये मंदिरों को नष्ट करते रहते तो निश्चित तौर पर उनके राज्य में विद्रोह और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती जोकि कोई भी शासक नहीं चाहता। असलियत में प्रत्येक मुस्लिम शासक ने सांप्रदायिक सौहार्द को प्रोत्साहित किया, मंदिरों को अनुदान दिया और हिंदू त्यौहारों व उत्सवों में भाग लेना प्रारंभ किया। उद्धारण के तौर पर अवध के नवाब रामलीला का आयोजन करते थे और इसके साथ ही होली और दीवाली का त्यौहार भी मनाते थे। टीपू सुल्तान 156 हिंदू मंदिरों को वार्षिक अनुदान मुहैया करता था। उसका प्रधानमंत्री एक हिंदू था, जिसका नाम पुनैया था तथा उसका प्रधान सेनापति कृष्ण राव भी एक हिंदू था। टीपू सुल्तान ने शृंगेरी के शंकराचार्य के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए लिखा कि आप जैसे महान संतों की उपस्थिति के कारण ही मेरा राज्य समृद्ध और खुशहाल है, यहां अच्छी बारिश, अच्छी फसल होती है और लोग भी आप जैसे महान संतों के यहां होने से खुश हैं। निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदुस्तान में ही बस गए अधिकांश मुस्लिम शासकों ने सांप्रदायिक सौहार्द को प्रोत्साहन दिया, हिंदू मंदिरों के लिए ज़मीन का अनुदान दिया और हिंदू त्यौहारों को भी मानने लगे। लेकिन ये तथ्य अंग्रेजी शासन के दौरान इतिहास की पुस्तकों से हटा लिए गए या इन तथ्यों को दबा दिया गया जिससे हिंदू-मुस्लिम समाजों में आपसी गतिरोध बढ़े। यह गतिरोध इतना आगे बढ़ा कि देश का विभाजन ही हो गया। लेकिन अब हमारा समाज भ्रम और प्रपंचों को समझ चुका है, पूरा देश एक है क्योंकि इसकी ताक़त और प्रेरणा का आधार साझी संस्कृति वाले समावेशी लोकतात्रिक समाज की आधार संरचना है। इसी विशेषता के कारण हजारों वर्षों से अनेक संक्रमणों के दौर से गुज़रने के बाद भी यह देश विकासोन्मुख है।

वास्तव में भारतीय समाज की आधार संरचना प्राकृतिक रूप से ही समावेशी चरित्र वाली रही है। ऐतिहासिक तथ्यों से इस मत की पुष्टि तो होती ही है, आधुनिक भारतीय लोकतंत्र ने भी अपने धर्मनिरपेक्ष व्यवहार से

इसका पुरजोर समर्थन किया है।

कई बार बड़े-बड़े आदर्शों और नारों में इंसानी समाज की समस्याएं दब जाती हैं जो आगे चलकर त्रासदी बन जाती हैं। मोटे तौर से हमारा समाज समावेशी है, क्योंकि सर्वेधानिक व्यवस्था इसको संरक्षित करती है, लेकिन बावजूद इसके भारतीय मानस के आंतरिक मन में जातीय नफ़रत, लिंग भेद, धार्मिक भेद जैसे असमानी भाव बोध विद्यमान हैं जिसके कारण भारतीय समाज के दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, स्त्री जैसे वर्चित तबके शोषित और प्रताड़ित हो रहे हैं। एक सभ्य और लोकतात्रिक समावेशी समाज में धर्म, जाति और लिंग आधारित शोषण का कायम होना पीड़ादायक है। अगर हम, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, गृह मंत्रालय, भारत सरकार की भारत में अपराध-2012 के आंकड़ों पर नज़र डालें तो पता चलता है कि वर्ष 2012 में अखिल भारतीय स्तर पर महिलाओं के खिलाफ़ जो अपराध हुए वह राष्ट्रीय स्तर पर 41.7 प्रतिशत है। दुख की बात यह है कि वर्ष 2011 की तुलना में 6.8 प्रतिशत की दर से इसमें वृद्धि ही हुई है। दहेज के लिए हत्या, मादा ध्रूण-हत्या, घरेलू हिंसा और यौन हिंसा खासतौर से आम हो चले हैं। 16 दिसंबर, 2012 की घटना के बाद से महिलाओं और बच्चियों के साथ दुष्कर्म की घटनाएं आम हो चली हैं। यह स्थिति देश की आधी आबादी यानी स्त्री समाज के लिए तो ख़तरनाक है ही, लोकतंत्र के अस्तित्व पर भी सवालिया निशान लगाती हैं। इसी तरह राष्ट्रीय स्तर पर 8.9 प्रतिशत का अपराध दर बच्चों के खिलाफ़ हुआ जिसमें दिल्ली जोकि 75.9 प्रतिशत, मिज़ोरम 28.2 प्रतिशत, छत्तीसगढ़ 20.24 प्रतिशत, गोवा 20.23 प्रतिशत, मध्य प्रदेश 17.8 प्रतिशत तथा अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह 16.7 प्रतिशत पर रहे। यह शर्म की बात है कि देश का भविष्य और बचपन शोषण, दुष्कर्म और अन्याय के दामन में गिरफ़्त है। जरा कल्पना करें कि ऐसे शोषित बच्चे देश के विकास में कैसे योगदान कर सकेंगे?

जातिगत उत्पीड़न और हिंसा की दृष्टि से दलित सबसे ज्यादा पीड़ित और संवेदनशील हैं। कई बार ऐसा लगता है कि जैसे दलितों का समाज में कोई स्थान या भूमिका ही नहीं है।

2011 के एक सर्वेक्षण के अनुसार भूखमरी और कुपोषण के सबसे ज्यादा शिकार दलित समुदाय के लोग ही होते हैं। उक्त सर्वेक्षण का आकलन है कि देश में कुपोषण के शिकार लोगों में से 50.51 प्रतिशत लोग दलित समुदाय के हैं जबकि सामान्य वर्ग के लोगों में कुपोषण की दर 36 प्रतिशत है। इसी तरह अनुसूचित जाति के बच्चों में कुपोषण की दर सामान्य वर्ग के बच्चों से डेढ़ गुना ज्यादा है। वास्तव में ग़रीबी के साथ-साथ दलितों के साथ जातिगत भेदभाव अभी तक कूरतम रूप में बना हुआ है। जातिवाद हमारे समाज के बस्त्र में नहीं बल्कि चमड़ी में घुसा हुआ है जो तभी मिटेगा जब हम चमड़ी को उधेंगें। भारतीय विकास-क्रम के भौतिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि दलित आवाम ही इस देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं पर इनका देश के संसाधनों पर ही हक्क नहीं है।

हत्या, बलात्कार, अपहरण, लूट, डकैती, आगजनी जैसे संगीन अपराध दलितों के साथ बड़ी निर्मलता से किए जा रहे हैं। इन घटनाओं में कमी की जगह इनमें निरंतर वृद्धि ही हुई है। एक रिपोर्ट के अनुसार दलितों पर राष्ट्रीय स्तर पर हुए अपराधों का 16.7 प्रतिशत है। राजस्थान 45.5 प्रतिशत के साथ पहले स्थान पर, गोवा 39.3 प्रतिशत के साथ दूसरे स्थान पर, उड़ीसा 31.5 प्रतिशत के साथ तीसरे स्थान पर, बिहार 29.1 प्रतिशत और केरल 26.7 प्रतिशत के स्थान पर चौथे और पांचवें स्थान पर हैं। यहां चौकाने वाला तथ्य यह है कि उड़ीसा और केरल जैसे शांत प्रदेशों में भी दलितों पर जुल्म बढ़े हैं। केरल में तो जातीय हिंसा बहुत पहले लगभग समाप्त हो गई थी, लेकिन लगता है कि समस्त भागों में दलितों पर हुए अत्याचारों की लौ केरल जैसे शांत, शिक्षित और सौम्य राज्य में भी पहुंचने लगी है। यह बेहद चिंताजनक स्थिति है। इसी तरह अनुसूचित जनजातियों (आदिवासी) के खिलाफ़ भी राष्ट्रीय स्तर पर 5.68 प्रतिशत की दर से अपराधों को चिह्नित किया गया है, हालांकि यह स्त्रियों, बच्चों और दलितों पर हुए अपराधों की तुलना में कम है। आज हालात यह है कि दलित-आदिवासी समुदाय के अधिकांश लोग शोषण और पिछड़ेपन के शिकार हैं। दुनिया और देश 21वीं सदी के आधुनिकतम वैज्ञानिक और भौतिक परिवर्तनों

के दौर से गुजर रहा है, लेकिन अभी भी हमारे वंचित वर्ग के लोग दो सौ साल पुराने उपनिवेशिक भारत की नारकीय ज़िंदगी जीने को अभिषप्त हैं। मानवाधिकार और सामाजिक न्याय पाने का अधिकार प्रतीक्षित है। इन तबकों में मौजूद शोषण और पिछड़ेपन की ये स्थितियां कहीं-न-कहीं लोकतंत्र के समावेशी चरित्र के अंधेरे पक्ष का भी खुलासा करती हैं जिनपर हमारी व्यवस्था तंत्र न तो शिद्दत से ध्यान देती हैं और न ही इन समस्याओं के समूल निवारण में रुचि लेती हैं। ऐसा नहीं है कि किसी सामाजिक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अगर भारत के कुछ राज्यों जैसे-पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान आदि में पिछले कुछ वर्षों से 'सम्मान के लिए हत्या' या 'ऑनर किलिंग' की घटनाएं बढ़ गई थीं और जिसके पीछे जाति या खाप पंचायतों की मुख्य भूमिका थी। ऐसे में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि जो कोई भी 'ऑनर किलिंग' जैसे संगीन अपराध में लिप्त पाया जाएगा, उसे अनिवार्य रूप से मौत की सजा दी जाएगी और उस क्षेत्र के जिलाधीश और जिला पुलिस अधीक्षक को तत्कालिक रूप से संदेह के घेरे में लिया जाएगा। इस फैसले के बाद 'ऑनर किलिंग' की घटनाओं में काफी कमी आई है। बात यहां पक्षधरता और इंसानियत की रक्षा की है। ऐसे में समाज का कोई भी तंत्र हो अगर उसकी नीयत और मंशा साफ़ है, वह शोषण और कुरीतियों को रोकना चाहता है तो कोई भी नहीं रोक सकता। लेकिन अगर मंशा में ही पारदर्शिता न हो तो अड़चन के सैंकड़ों सिर उभर ही आते हैं।

गांव आज भी शोषण और पिछड़ेपन का केंद्र बने हुए हैं। महात्मा गांधी ने बार-बार कहा कि असली भारत गांवों में बसता है। उनकी दृष्टि में जब तक गांवों का विकास नहीं होगा तब तक भारत अपने असली स्वरूप को नहीं पा सकेगा। वह गांवों को विकास की इकाई बनाना चाहते थे। उनका ज्ञार स्वरेशी उद्योग पर था। वह सत्ता का विकेंद्रीकरण कर ग्राम सभाओं को अधिक-से-अधिक महत्व देने के हिमायती थे। असल में महात्मा गांधी समावेशी लोकतंत्र के आदर्शवादी भावना के वशीभूत होकर ग्राम स्वराज की वकालत करते हैं। जबकि इसके उलट डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अपनी अनुभूति और तत्कालीन भारतीय समाज के जातिगत

यथार्थ की रोशानी से यह निष्कर्ष निकाला कि गांव जातीय शोषण का केंद्र है और दलितों को सुरक्षित ज़िंदगी के लिए नगरों में बसना चाहिए। डॉ. भीमराव अंबेडकर की इन मान्यताओं को तो छोड़िए। गांव तो आज भी सामंती व्यवस्था और विचारधारा के अवशेष को जिंदा रखे हुए हैं जिनकी ख़बरें आए दिन समाचारों में आती रहती हैं। हमारा उद्देश्य यहां गांवों का विरोध करना नहीं है, बल्कि उनको मानवीय और समावेशी बनाकर आधुनिक और आत्मनिर्भर बनाते देखना है। वास्तव में महात्मा गांधी ने अहिंसा, सांप्रदायिक एकता, सविनय अवज्ञा द्वारा अन्याय के प्रतिरोधक, अपसिंग्रह, हिंदी, सामाजिक समरसता और साध्य के साथ साधन की पवित्रता पर जोर दिया। वे ऐसी अर्थव्यवस्था

समावेशी लोकतंत्र को पूरी तरह से हासिल करने के लिए अभी भी काफी कुछ किया जाना शेष है। जब तक समाज के सभी शोषित, पीड़ित, वंचित तबके के लोग सामाजिक विकास और उत्पादन के साधनों में हिस्सेदारी प्राप्त करके, सम्मानपूर्वक सुरक्षित जीवन नहीं जीने लग जाते, तब तक समावेशी लोकतंत्र का प्रश्न आदर्शवाद की भूल-भूलैया में भटकता रहेगा।

चाहते थे जिससे रोजगार के अवसर अधिकतम बढ़ें और संवृद्धि का लाभ बहुसंख्य लोगों को मिले और उनका आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन-स्तर ऊंचा उठे।

समावेशी आदर्श राज्य की कल्पना तुलसीदास ने भी प्रतिपादित की थी। "कत विधि सृजि नारि जगमा ही, पराधीन सपनेह सख नाहीं"— इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि ऐसा समाज जहां पुरुषों के लिए बंधन नहीं पर नारी के लिए हो या अर्थात् संबंधों की विषमता थी। समाज के संबंधों में विषमता का अर्थ है दासता। सामाजिक बुराइयां इन्हीं विषमता से पैदा होती हैं। इस विषमता से मुक्ति का मार्ग था रामराज्य में विश्वास करना। एक पत्नीव्रता राम के सर्वप्रिय पात्र हैं निषाद और शबरी। निषाद लोक, वेद, शास्त्र और समाज की दृष्टि से इतने नीचे थे कि जिस व्यक्ति पर उनकी छाया पड़े, वह व्यक्ति भ्रष्ट हो जाए, लेकिन वह राम के सखा हैं।

राम शबरी के जूठे बेर खाते हैं इत्यादि बातें सामाजिक समरसता और समावेशी संस्कृति को आदर्शवादी रूप में सामने रखती हैं। लेकिन यह भी सच है कि बाल्मीकि रामायण में राम, शूद्र, शंबुक का वध करते हैं और मान-मर्यादा के लिए अपनी प्रिय पत्नी सीता का परित्याग भी कर देते हैं। ऐसे में राम राज्य एक आदर्श राज्य कैसे हो सकता है? जो राजा शूद्र और स्त्री विरोधी हो उसका राज समावेशी कैसे हो सकता है। कहना न होगा कि तुलसीदास अपनी अत्यधिक राम भक्ति के कारण राजाराम के आंतरिक चरित्र को देख नहीं पाते हैं जो कि वर्ण व्यवस्था और स्त्री विरोध या यों कहें पितृसत्ता की वक़ालत करता है। लेकिन इसके बावजूद तुलसीदास गैर-जिम्मेदार राजा और शासन के खिलाफ़ थे देखिए :

"जामुराज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अबस नरक अधिकारी।"

बहरहाल, स्थिति यह है कि हमारा लोकतंत्र और सविधान समावेशी समाज की वकालत करता है जोकि व्यावहारिक स्तर पर अभी भी पूरी तरह से सफल नहीं हो पाया है। अभी भी हम समावेशी लोकतंत्र को पूरी तरह से हासिल करने के लिए काफी कुछ किया जाना शेष है और जब तक समाज के सभी शोषित-पीड़ित, वंचित तबके के लोग सामाजिक विकास और उसके उत्पादन के साधनों में हिस्सेदारी प्राप्त करके, सम्मानपूर्वक सुरक्षित जीवन नहीं जीने लग जाते, तब तक समावेशी लोकतंत्र का प्रश्न आदर्शवाद की भूल-भूलैया में भटकता रहेगा। समावेशी लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए विभिन्न समुदायों के बीच मौजूद अंतर को पाठना होगा; लैंगिक विभेद को ख़त्म करके महिलाओं, दलितों का सशक्तीकरण करना होगा, जिससे उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुधरे। तभी वे देश-समाज के साथ क्रदम से क्रदम मिलाकर चल पाएंगे और मुख्यधारा में यकीन कर पाएंगे। असलियत में हम सभी न पूरी तरह सामंती व्यवस्था में जी रहे हैं और न ही पूर्णतः आधुनिक, औद्योगिक व्यवस्था में। हम कहीं-न-कहीं इन दोनों ही व्यवस्थाओं के बीच जी रहे हैं। यह वर्तमान भारतीय समाज का अंतर्विरोध और यथार्थ है।

(लेखक किरोड़ीमल कॉलेज में एसोसिएट प्रोफेसर हैं)

सामाजिक दायित्वों की कानूनी बाध्यताएं बढ़ाए बिना समावेशी विकास संभव नहीं

● उमेश चतुर्वेदी

हाल ही में आई नमूना सर्वेक्षण की नवीनतम रिपोर्ट भी देश में व्याप्त ग्रामीण इलाकों में सबसे निर्धन लोग औसतन महज 17 रुपये प्रतिदिन और शहरों में सबसे निर्धन लोग 23 रुपये प्रतिदिन में जीवनयापन करते हैं

आर्थिक उदारीकरण को लागू हुए दो दशक से ज्यादा का बक्त बीत गया है। 1991 की जुलाई में देश की अर्थव्यवस्था को खोलते बक्त तत्कालीन वित्तमंत्री और मौजूदा प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने दावा यह जरूर किया था कि देश की ग्रामीणी दूर होगी और आर्थिक व्यवस्थागत में ढांचागत सुधार के चलते देश की अर्थव्यवस्था बेहतर होगी। बेशक अर्थव्यवस्था बेहतर हुई है। पिछले साल से बेशक हमारी विकास दर महज पांच और छह फीसदी के आंकड़े के दूर-दूर ही घूमती रही है लेकिन एक दौर ऐसा भी आया था, जिसमें हमारी विकास दर आठ फीसदी से भी ज्यादा हो गई थी। आर्थिक सुधारों और ढांचागत बदलाव के चलते देश का एक बड़ा हिस्सा चमकदार तो बना लेकिन ऐसे चमकदार माहौल की सबसे पहले पोल खोली योजना आयोग की अर्जुन सेन गुप्ता कमेटी ने। 2007 में पेश अपनी रिपोर्ट में इस कमेटी ने माना कि देश के करीब 83 करोड़ लोग रोजाना बोस रुपये या उससे भी कम पर जीने को मजबूर हैं। चूंकि यह रिपोर्ट योजना आयोग से ही जुड़े एक अर्थशास्त्री की थी, लिहाजा इसे लेकर चिंतित होना चाहिए था लेकिन जिन्हें इसकी चिंता करनी चाहिए, वे खुद भी इस रिपोर्ट को नकारते रहे। यहीं वजह

है कि संयुक्त राष्ट्र संघ तक को कहना पड़ रहा है कि उसने 1990 से 2015 के बीच ग्रामीणों की संख्या आधी करने का जो लक्ष्य रखा था, उसे हासिल करने में भारत अब भी पीछे है। संयुक्त राष्ट्र के इस लक्ष्य के चलते भारत सरकार देश में 2015 तक ग्रामीणों की संख्या 23 फीसदी के आसपास लाने का दावा कर रही है।

भारत जैसे देश में जिसकी जनसंख्या 121 करोड़ की संख्या को पार कर गई हो, वहां छब्बीस फीसदी के करीब लोग अब भी ग्रामीण हों तो यह संख्या बड़ी है। यानी अब भी भारत में ग्रामीणों की संख्या करीब अट्ठाइस करोड़ के आसपास बैठती है। हाल ही में आई नमूना सर्वेक्षण की नवीनतम रिपोर्ट भी इस ग्रामीणी की ही गवाही दे रही है। इस रिपोर्ट के मुताबिक देश के ग्रामीण इलाकों में सबसे निर्धन लोग औसतन महज 17 रुपये प्रतिदिन और शहरों में सबसे निर्धन लोग 23 रुपये प्रतिदिन में जीवनयापन करते हैं। इसी रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 2011-12 (जुलाई-जून) से संबद्ध आंकड़ों के मुताबिक ग्रामीण इलाकों में निचले स्तर पर पांच प्रतिशत आबादी का प्रतिव्यक्ति औसत मासिक खर्च 521.44 रुपये रहा, जबकि शहरी इलाकों में यह 700.50 रुपये रहा। कमरतोड़ महंगाई के इस दौर में

अंदाजा लगाना मुश्किल है कि जिनके पास खर्च करने के लिए रोजाना महज 17 रुपये ही होते हों, वे किस तरह गुजारा करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने नब्बे के दशक में सबसे ग्रामीण उसे माना था जो रोजाना एक डॉलर से कम खर्च कर पाते हों। जिसे बढ़ाकर अब उसने सवा डॉलर कर दिया है। इस हिसाब से अपने भारतीय ग्रामीणों की हालत देखने की कोशिश करें तो निराशा होना स्वाभाविक है। हालांकि सबौच्च न्यायालय में दिये हलफनामे के अनुसार योजना आयोग खुद उन्हें ग्रामीण नहीं मानता जो गांवों में रहते हों और रोजाना करीब 26 रुपये खर्च करते हों। इसी तरह वह उन शहरियों को ग्रामीण नहीं मानता, जिनकी खर्च की सीमा रोजाना 32 रुपये है। आंकड़ेबाजी के इस खेल में बेशक ग्रामीणों की संख्या को घटाया या बढ़ाया जा सकता है लेकिन इससे हक़ीक़त नहीं छुप पाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ अब भी मानता है कि भारत की करीब बारह फीसदी आबादी को भरपेट भोजन भी मयस्सर नहीं है। शायद ये आंकड़ों का बोझ ही है कि अब देश में भोजन की गारंटी देने के अधिकार को लेकर काम आगे बढ़ाया जा रहा है।

राजनीतिक दावपेंच के बावजूद इससे जुड़े अध्यादेश को मंजूरी भी मिल गई है लेकिन

सवाल यह है कि क्या इस एक क़दम से भारत की ग्रामीण मिट सकेगी और समाज में हाशिए पर पढ़े और पीछे छूट गए तबके को मुख्यधारा में कम से कम उस स्तर पर लाया जा सकेगा, जिस स्तर पर देश की करीब तीस फीसदी आबादी पहुंच चुकी है। मध्य वर्ग के जानकार पवन वर्मा के मुताबिक देश में करीब 47 करोड़ मध्यवर्ग है। उसकी निश्चित तौर पर खरीद क्षमता बढ़ी है लेकिन क्या उनके आधार पर भारत के करीब अट्ठाइस करोड़ पीछे छूट गए लोगों के सवाल को छोड़ा जा सकता है। निश्चित रूप से इस सवाल का जवाब ना मैं हूँ।

मध्य वर्ग, उच्च वर्ग और ग्रामीणों के बीच उदारीकरण ने खाई को और बढ़ाया ही है। आज जो ग्रामीण और बेरोज़गारी है, उसमें उदारीकरण के चलते आए श्रम कानूनों और सामाजिक सुरक्षा उपबंधों में छिलाई को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। हाल ही में आई सर्वेक्षण कंपनी की रिपोर्ट की तरफ ध्यान दें तो वह भी हमारी आंख खोल सकती है। उदारीकरण के पहले भी संगठित रोजगार की संभावना कम थी, लेकिन उदारीकरण के बाद उसी अनुपात में और भी कम हुई है। गैलप की रिपोर्ट ‘पेरोल टू पॉपुलेशन मैट्रिक’ के मुताबिक 2012 की पहली छमाही में प्रत्येक चार भारतीय वयस्कों में से सिर्फ़ एक यानी करीब 26 प्रतिशत के पास पूर्णकालिक नौकरी है। गैलप के आंकड़े के मुताबिक जहां पड़ोसी देश चीन और अन्य विकसित देशों में काम करने की उम्र वाले लोगों की आबादी घटती जा रही है, वहीं भारत की बढ़ती युवा आबादी का संपूर्ण आर्थिक दोहन नहीं हो पाया है। सर्वेक्षण के परिणामों के अनुसार 15 से 30 वर्ष की आयु वाले भारतीय के पास अपने कार्यस्थल के वरिष्ठ साथियों की तरह एक सप्ताह में कम से कम 30 घंटों की पूर्णकालिक नौकरी है, लेकिन उनके बेरोज़गार होने की संभावना पांच गुणा अधिक है। सवाल यही है कि बेरोज़गारी को रोकने का हमारी व्यवस्था में कोई माकूल उपाय नहीं है। उदारीकरण ने सिर्फ़ मुनाफ़ा आधारित व्यवस्था को जन्म दिया है। जिसमें सामाजिक सरोकार लगातार पीछे छूटते गए हैं। हालांकि कॉरपोरेट सोशल रिस्पासिबिलिटी के नाम पर कॉरपोरेट पर दबाव बनाने की कोशिश तो की

गांधीजी ने रामराज की जो कल्पना की थी, दरअसल वह बराबरी की व्यवस्था थी। वह अंतिम आदमी की बात भी इसलिए करते थे। दुर्भाग्यवश उदारीकरण ने अंतिम आदमी के बारे में संजीदगी से सोचने की परिपाटी पर ही विराम लगा दिया है। जब तक इसमें बदलाव नहीं लाया जाएगा, सामाजिक दायित्वों को निभाने के लिए कठोर सरकारी कानून और बाध्यताएं लागू नहीं की जाएंगी, समावेशी विकास का लक्ष्य हासिल कर पाना मुश्किल होगा।

गई, लेकिन वह भी महज दिखावा बनकर रह गई है। यही वजह है कि देशभर में छोटे-छोटे समूहों के करीब डेढ़ हजार आंदोलन चल रहे हैं। हमें इस तथ्य को भी अब गहराई से स्वीकार कर लेना चाहिए।

आजादी के बाद और उसके पहले तक बेशक शोषण आधारित व्यवस्था थी लेकिन उसमें कहीं न कहीं सामाजिक सरोकार जुड़े हुए थे। आजादी के पहले कई व्यवसायियों और जमीदारों की कहानियां मिलेंगी, जिन्होंने सूखा और अकाल के दौर में कुछ ऐसे काम किए, ताकि लोगों को रोजगार मिल सके। कुछ उसी तर्ज पर अपना मनरेगा तो शुरू हुआ। शुरुआत में उसके फायदे भी नज़र आए लेकिन अब वह उसकी धार कुंद पड़ती जा रही है। इसलिए इन दिनों समावेशी विकास की मांग चल रही है। समावेशी विकास में समाज के पिछड़ चुके तबके को साथ लाने और उनका भी जीवन स्तर बेहतर करने की मांग चल रही है लेकिन यह लक्ष्य तभी हासिल किया जा सकेगा, जब सामाजिक उपबंध और सामाजिक उत्तरदायित्वों को लेकर सरकारें और समाज खुद को जिम्मेदार मानेंगे। अगर कोई संस्थान मुनाफ़ा नहीं कमा रहा है तो उसे बंद कर दिया जाना चाहिए लेकिन उससे बेरोज़गार हुए लोगों को सड़क पर यूँ ही पढ़े रहने के लिए छोड़ देना समावेशी विकास की राह में बाधा ही बनता है। पश्चिम से हमने उदारीकरण तो ले लिया, लेकिन उनकी तरह सामाजिक दायित्वों को नहीं लिया। वहां बेरोज़गार होते ही व्यक्ति न्यूनतम गुज़ारे के लिए राज्य से भत्ता पाने का अधिकारी हो जाता है। यहां

सेवा निवृति के बाद भी सुविधाओं की चिंता भी राज्य ही करता है। वहां के बच्चे की पढ़ाई की भी चिंता राज्य की है। स्वास्थ्य की देखभाल की भी जिम्मेदारी राज्य पर है। क्या इन बिंदुओं के जरिये हम देखें तो हमारी व्यवस्था ने ऐसे अधिकार अपने ऐसे नागरिकों को दिए हैं। सरकारी अस्पतालों की दम तोड़ती व्यवस्था, सरकारी स्कूलों की बदहाली और बेरोज़गारों की चिंता को लेकर हमारी व्यवस्था में सरोकार कम ही नज़र आता है। सबसे बड़ी बात यह है कि हमारे संविधान ने नागरिकों को अधिकार तो बहुत दिए हैं लेकिन उसी संविधान के तहत विकसित व्यवस्था में समाज की मूल इकाई मनुष्य लगातार पीछे छूटता गया है और समाज का ताक़तवर तबका सर्वेक्षणिक व्यवस्थाओं और उपबंधों को अपने ढंग से ना सिर्फ़ व्याख्यायित करता रहा है, बल्कि उसका उपभोग भी करता है। इसलिए हमारे यहां एक तबका तो अपना खुद का हेलीकॉप्टर लेकर उड़ने का खबाब देखता है तो दूसरा तबका महज 17 रुपये रोजाना जुटाने के लिए अपनी सुनहरी ज़िंदगी खपाता रहता है, ताकि उसका पेट भर सके। तब भी गारंटी नहीं कि उसका पेट भर ही पाए। इसलिए ज़रूरी है कि सबसे पहले मनुष्य केंद्रित उस व्यवस्था की तरफ क़दम बढ़ाया जाए, जिसे संविधान में बराबरी का दर्जा कहता है। मनुष्य केंद्रित सोच बने बिना हर मनुष्य के दर्द को समझना आसान नहीं होगा। अगर ऐसी व्यवस्था बनती है तो निश्चित रूप से बदलाव लाया जा सकेगा। गांधीजी ने रामराज की जो कल्पना की थी, दरअसल, वह बराबरी की व्यवस्था थी। वह अंतिम आदमी की बात भी इसलिए करते थे। दुर्भाग्यवश उदारीकरण ने अंतिम आदमी के बारे में संजीदगी से सोचने की परिपाटी पर ही विराम लगा दिया है। जब तक इसमें बदलाव नहीं लाया जाएगा, सामाजिक दायित्वों को निभाने के लिए कठोर सरकारी कानून और बाध्यताएं लागू नहीं की जाएंगी, समावेशी विकास का लक्ष्य हासिल कर पाना मुश्किल होगा। तभी गांधी के आखिरी आदमी के आंसू भी पीछे जा सकेंगे। अन्यथा संयुक्त राष्ट्र के ग्रामीण हटाने के लक्ष्य की मियाद को बढ़ाने का ही खेल जारी रहेगा।

(लेखक टेलीविज़न पत्रकार हैं।
ई-मेल : uchaturvedi@gmail.com)

लोकतंत्र के समक्षा चुनौतियां एवं संभावनाएं

● राजकुमार

डॉ. अंबेडकर ने 26 नवंबर, 1949 को राष्ट्र को चेताया था कि भारत में राजनीतिक समानता एवं दूसरी तरफ सामाजिक एवं आर्थिक असमानता का अंतर्विरोध स्थापित हो रहा है इसे शीघ्र समाप्त करने की ज़रूरत है, अन्यथा गैर-बराबरी के शिकार समूह राजनीतिक बराबरी में अपना विश्वास खो देंगे।

आज 65 साल बाद भी डॉ. अंबेडकर की चेतावनी प्रासंगिक है

लोकतंत्र राजनीतिक विज्ञान के सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांतों में से एक माना जाता है। जाहिर है लोकतंत्र की अवधारणा पर अभी तक कोई मतैक्य नहीं बन पाया है। जहां वर्तमान में इसकी उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, वहीं दूसरी तरफ इसके सफल एवं कुशल संचालन की व्यावहारिक समस्याएं भी उजागर हो रही हैं। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संस्थाएं अपने को लोकतांत्रिक सिद्ध करने में लगी हैं। शासन व्यवस्थाएं अधिनायकवादी हैं, राजतंत्र हैं या कोई और सभी अपने आपको लोकतंत्र के तमगे से नवाजना चाहते हैं। पाकिस्तान में निर्देशित लोकतंत्र हो या साम्यवादियों की, सभी अपने को उदारवादी लोकतंत्र से श्रेष्ठ मानते हैं। विवाद यह नहीं है कि किसका लोकतंत्र बेहतर है, बल्कि राजनीतिक विज्ञानी इस पर भी एकमत नहीं है कि लोकतंत्र क्या है? कुछ लोग इसे शासन प्रणाली तक सीमित रखते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ लोग इसे सामुदायिक जीवन के उत्कृष्ट संगठन का अनिवार्य रूप मानते हैं। लोकतंत्र एक जीवन पद्धति के रूप में ज्यादातर समूहों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है इस बात को भी अधिकांश लोगों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि शासनतंत्र के रूप में एक यंत्रीय व्यवस्था लोकतंत्र का एकांगी स्वरूप ही सामने लाती है उसकी सम्यक सार्थकता को उजागर नहीं करती।

यह विवाद किसी भी देश में लोकतंत्र की सफलता या असफलता की बुनियाद तैयार

करता है। भारत में लोकतांत्रिक राजव्यवस्था अपने विकास की अर्द्धशती पूरी कर चुकी है, जहां लोग इन राजनीतिक अधिकारों को सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार कर इनके इस्तेमाल के तरीके सीख रहे हैं वहीं दूसरी तरफ शासक जातियां अपने संसाधनों के सहारे लोकतंत्र को अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल करने की पुरजोर कोशिश कर रहे हैं, यहीं दूंद्ध भारतीय लोकतंत्र की प्रमुख चुनौती बनकर उभरा है।

असमानता एक भयंकर रोग है जो भारत में हर तरफ अपनी जड़ें मजबूती से जमाए हुए हैं। सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक, लैंगिक एवं राजनीतिक असमानता अन्यायकारी रूप धारण कर चुकी है। यह राजनीतिक लोकतंत्र के लिए ख़तरा बनती जा रही है। किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसकी सामाजिक संरचना एवं आर्थिक आधार पर टिकी होती है। अलोकतांत्रिक समाज में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का सफल होना असंभव है, इसकी सफलता के लिए सामाजिक लोकतंत्र एवं आर्थिक समानता एक पूर्व शर्त बन जाती है। भारतीय संविधान को संविधान सभा को सौंपते हुए इसके मुख्य शिल्पकार डॉ. अंबेडकर ने 26 नवंबर, 1949 को राष्ट्र को चेताया था, कि भारत में राजनीतिक समानता एवं दूसरी तरफ सामाजिक एवं आर्थिक असमानता का अंतर्विरोध स्थापित हो रहा है इसे शीघ्र समाप्त करने की ज़रूरत है अन्यथा गैर-बराबरी के शिकार समूह राजनीतिक बराबरी में अपना

विश्वास खो देंगे। आज 65 साल बाद भी डॉ. अंबेडकर की चेतावनी प्रासंगिक है। वर्तमान में अगर हम भारतीय लोकतंत्र के सम्पुख प्रमुख चुनौतियों को रेखांकित करें जिसकी वजह से समाज एवं अर्थव्यवस्था का लोकतांत्रिकरण नहीं हो पा रहा है तो यह सुनिश्चित हो जाएगा कि लोकतांत्रिक संस्थाओं की बुनियाद असमानता अत्याचार, अपमान, अन्याय एवं अलगाव जैसी भेदभावकारी अलोकतांत्रिक बीमारियों के ऊपर नहीं रखी जा सकती। भारत में आज लोकतंत्र एक प्रक्रियात्मक यंत्र के रूप में संचालित हो रहा है तो यह कहना गलत न होगा। भारत सरकार स्वीकार कर रही है कि 82 करोड़ लोग अपने लिए दो वकृत का खाना जुटाने में सक्षम नहीं हैं। यदि लोकतंत्र वर्तमान गति से काम करता रहा तो 65 साल सभी भारतीयों को अपना तन ढकने में और 130 साल सिर ढकने के लिए इतजार करना पड़ेगा। यह एक गंभीर रोग की ओर इशारा करता है जब तक इसका कारण न जाना जाए और उसके निवारण की उचित प्रक्रिया न अपनाई जाए, भारत में लोकतंत्र की स्थापना एवं रक्षा एक भ्रम ही रहेगा।

भारत में जाति इस क़दर व्याप्त है कि कुछ शासक जातियों ने अपनी राजनीतिक चेतना एवं रणनीतिक कौशल के सहरे संरचनात्मक वर्चस्व की ऐसी संस्थाओं का निर्माण कर लिया है, जहां बहुसंख्यक जातियां गुलामी का जीवन हजारों साल से निरंतर बिना किसी बाहरी बाध्यता के जी रही हैं। यह ऐतिहासिक घट्यंत्र सहजता ग्रहण कर

चुका है जिससे उनकी मुक्ति संभव नहीं, लंबे समय तक वे मानते रहे कि संघर्ष का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं मिलेगा। इस झूठी चेतना के शिकार होकर बहुजन समाज में अपनी मुक्ति के आंदोलन को निलंबित रखे कुछ व्यक्तियों या समूहों ने अगर इस घड़यंत्र (साम, दाम, डंड, भेद, छल, कपट) से निकलने की कोशिश की तो शासक समाज एवं उसके ठेकेदारों ने उन्हें निर्दयता से कुचल दिया। हर पेशेवर समूह को वंशानुगत जाति का नाम देकर अपने-अपने दायरों में विभक्त कर एकांकी जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया। राजनीतिक लोकतंत्र के बावजूद जाति अपने विभिन्न आयामों में निर्बाध चली आ रही है। जाति वैमनस्य द्वेष, हिंसा, अत्याचार गुलामी, गुरीबी, अपमान जैसी अनेक बुराइयों की जड़ है। बंधुत्व, मैत्री, करुणा जैसे सदाचारी विचारों से इसका मौलिक विरोध है। लोकतंत्र इस बंजर पृष्ठभूमि में पनप नहीं पा रहा है।

जब तक आपसी भाईचारा बढ़ाकर आधुनिक नागरिक समाज के निर्माण का प्रयास नहीं किया जाता तब तक लोकतंत्र एक ऊपरी आवरण के रूप में ही रहेगा, यथार्थ रूप में नहीं। ऐसा समाज लोकतांत्रिक समाज व्यवस्था का ढकोसला निरंतर ढोता रहेगा। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था रूपी पौधा यहां सूख जाएगा। दुनिया के अन्य देशों में लोकतंत्र समाज के आधुनिकीकरण के अनुपात में ही मजबूत हो पाया है। सभी को अपने मानवीय अधिकारों की रक्षा करते हुए दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का सम्मान करना पड़ेगा। अन्यथा कुछ शासक समूह अपने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक वर्चस्व के कारण हमेशा संप्रभु बने रहेंगे। भारत में यही होता आ रहा है, शासक जातियों को अपने जातिगत पूर्वाग्रहों से निकलकर लोकतांत्रिक मान्यताओं एवं संस्थाओं को मजबूत करना ही होगा।

भारतीय लोकतंत्र के समक्ष दूसरी गंभीर चुनौती है, शासक वर्ग के वर्चस्वों की निरंतरता। राजनीति विज्ञान एवं राजनीतिक इतिहास अभिजात्य वर्ग की अदला-बदली का जीवंत दस्तावेज़ है, लेकिन यह सिद्धांत भारत में लागू नहीं हो पाया। शासक जातियों ने अपने आपको पक्ष-प्रतिपक्ष में विभाजित करके सभी शक्ति संस्थानों पर अपना वर्चस्व बना लिया। सभी राजनीतिक संगठनों

(वामपंथी, दक्षिणपंथी, मध्यममार्गी) का नेतृत्व उच्च जातियों के हाथों में है। क्रांतिकारी, प्रतिक्रांतिकारी, प्रगतिशील, कट्टरपंथी सभी प्रकार की विचारधाराएं ब्राह्मणवाद से संचालित हैं। यही हाल अन्य सामाजिक, धार्मिक व्यावसायिक व गैर-सरकारी संस्थाओं का है शासक समूह नेतृत्व परिवर्तन का खेल खेलकर शिकार जातियों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं। दुनिया के अन्य किसी देश में शासक वर्ग ने निरंतर हजारों सालों तक अपना वर्चस्व इस तरह बनाकर नहीं रखा, जहां शिकार समूह शक्ति संस्थानों के मुहानों तक भी नहीं पहुंच पाए हों। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था संख्या बल पर आधारित है, लेकिन पिछले 6 दशकों से बहुसंख्यक समाज राजसत्ता पर अपना अधिकार नहीं कर पाया है। शासक वर्गों की अदला-बदली के बिना लोकतंत्र अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पाएगा, जिसके लिए पीड़ित बहुसंख्यक समाज को अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना पड़ेगा।

भारतीय लोकतंत्र के समक्ष तीसरी गंभीर चुनौती सामंती वंशवाद एवं परिवारवाद ने उत्पन्न की है। जर्मनीदारों, राजे-रजवाड़ों व औद्योगिक घरानों ने लोकतांत्रिक संस्थाओं पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका मीडिया, धार्मिक संस्थाएं कुछ लोगों के पुत्र, पुत्री, पत्नी, बहू एवं अन्य रिश्तेदारों से भरी पड़ी हैं। सामान्य नागरिक अपने अथक प्रयास एवं योग्यता के बावजूद संसाधनों के आभाव में परिवारवाद वालों की पृष्ठभूमि वालों से पिछड़ जाता है।

यह वंशवाद लोकतंत्र को अंदर से खोखला कर चुका है। अधिकांश राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक संस्थाएं परिवारिक कुपात्रों की शरणस्थली बन चुकी है जिससे न सिर्फ़ इन संस्थाओं की कार्यकुशलता एवं क्षमता घटी है बल्कि मेहनतकश एवं ईमानदार लोगों का इन लोकतांत्रिक संस्थाओं से कुछ मोहभंग हो रहा है। यह लोकतंत्र के लिए अच्छा संकेत नहीं है।

उपरोक्त संस्थागत वर्चस्व को बनाए रखने के लिए शासक जातियों ने रणनीतिक साधनों के सहारे भारत में लोकतंत्र को मजबूती प्राप्त करने से रोकने की कोशिश की है। इन रणनीतियों में सबसे प्रमुख है समाज को शैक्षणिक रूप से पंग बनाए रखना। 1882 में

महामना जोतिबा फुले ने हंटर कमीशन के सामने प्रतिवेदन देते हुए समान एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की बकालत की थीं। इस घटना को 130 साल गुजर चुके हैं और इन 130 वर्षों में 65 वर्ष तथाकथित आजादी एवं लोकतंत्र के भी हैं लेकिन अभी तक भारत में प्राथमिक शिक्षा सुनिश्चित नहीं हो पाई है। कुछ अध्ययनों के मुताबिक बांगलादेश एवं श्रीलंका जैसे देशों ने अपने यहां शिक्षा के क्षेत्र में भारत से कहीं अधिक गुणात्मक विकास किया है। किसी भी देश या समाज का विकास उसके नागरिकों की शैक्षणिक परिपक्वता पर निर्भर करता है लेकिन भारत में लगता है कि शासक जातियों का वर्चस्व बहुजन समाज की अज्ञानता व अशिक्षा पर निर्भर है। इसलिए सत्ता समूह जानबूझकर बहुसंख्यक समाज को अज्ञानता के कुएँ में धकेले हुए हैं। अधिकतर सरकारी स्कूलों को इस रणनीति के तहत घटिया दर्जे का खिचड़ीघर बना दिया गया है जहां पर बच्चों को सड़ा-गला-अधकचरा भोजन मुफ्त में दिया जाता है जिसे खाकर उन्हें कई बार जान से हाथ धोना पड़ता है। यह कारोबार ठेकेदारों गैर-सरकारी संस्थानों, पंचायत प्रधानों, शिक्षकों नौकरशाहों एवं राजनेताओं के लिए फायदे का सौदा है। आज माता-पिता यह पूछने के बजाय कि आज स्कूल में क्या पढ़ा, अपने बच्चों से पूछते हैं कि क्या खाया। कलम-किताब हो न हो लेकिन स्कूल जाते समय बच्चे के हाथ में कटोरा-चम्मच जरूर होना चाहिए। अधिकांश खिचड़ीघरों में कापी-किताब के पन्नों से ही काम चलाया जाता है इसकी पराकाष्ठा तो तब होती है जब शिक्षकों को अनिवार्य रूप से अधिकारियों को यह बताना होता है कि उन्होंने बच्चों को आज क्या खिलाया। कोई सरकारी या अदालती फरमान शिक्षकों से यह नहीं पूछता कि उन्होंने बच्चों को क्या पढ़ाया? यह बच्चों के दिमाग को खिचड़ी बना देने की अनूठी रणनीति है।

शासक जातियों ने अपने बच्चों के लिए आधुनिक सुख-सुविधाओं से लैस निजी स्कूलों का निर्माण किया है। सरकारी स्कूल 82 करोड़ बहुसंख्यक समाज के लिए ही है। अब तो इन स्कूलों में दसवीं कक्षा तक पढ़ने, यहां तक कि स्कूल जाने की भी जरूरत नहीं है।

आठवीं या नौवीं तक इनको पढ़ने-पढ़ाने

की जरूरत नहीं है क्योंकि आठवीं तक किसी भी विद्यार्थी को फेल न करने का सरकारी फरमान जारी हो चुका है। यह कम पढ़े-लिखे मजदूरों को तैयार करने का तरीका बनता जा रहा है। अगर शिक्षक अच्छी तरह पढ़ाएंगे तो इन विद्यार्थियों का मानसिक विकास उचित प्रकार से होगा तो शासक जातियों के वर्चस्व को ख़तरा पैदा कर सकता है शायद इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकारी शिक्षा व्यवस्था को ही पंग बना दिया गया है।

ग्रीबी-भुखमरी एवं बेरोज़गारी को एक रणनीति के तहत बनाकर रखा जा रहा है। सरकार के अनुसार भारत में 100 करोड़ लोग 20 रुपये रोज़ से कम पर अपना जीवनयापन कर रहे हैं। 82 करोड़ लोगों को दो जून का खाना नसीब नहीं हो रहा है। करीब 2 लाख किसानों ने पिछले दो दशकों में ग्रीबी के कारण आत्महत्या कर ली। वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत संपत्ति का 70 प्रतिशत हिस्सा भारत में सिर्फ़ (आठ हजार दो सौ पच्चव्हतर) 8,275 लोगों के पास है। यह आर्थिक संसाधनों का अत्याचारी केंद्रीकरण है। सरकार ग्रीबों को खाना तो देना चाहती है लेकिन गुणात्मक शिक्षा एवं रोजगार नहीं जिसके द्वारा वे स्वयं अपने संसाधनों से अपना सशक्तीकरण कर सकें ग्रीबों को खाने से ज्यादा रोजगार की और सम्मानजनक रोजगार के लिए बेहतरीन शिक्षा की भी आवश्यकता है।

इंसान के पास सिर्फ़ पेट ही नहीं है बल्कि एक दिमाग भी है जिसमें विचारों की भूख होती है, उसकी बौद्धिक क्षमताओं का विकास ही वास्तविक मानवीय विकास है। शिक्षा इस विकास का सर्वोत्तम माध्यम है। ग्रीबी, भुखमरी और बेरोज़गारी को बनाए रखकर लोकतंत्र को भूखतंत्र बनाए रखने की कोशिश की जा रही है।

भारत में मीडिया की भूमिका पिछले दशकों में बहुत महत्वपूर्ण हुई है, लेकिन मीडिया ने इसका निष्पक्षता से निर्वाह नहीं किया है। लगता है यह भी शासक जातियों के वर्चस्व को बनाए रखने का माध्यम बन गया है। मीडिया सामाजिक हित के महत्वपूर्ण मुद्दों को उपेक्षित करके अनर्गल बहसों को हवा देकर जनता का ध्यान बटाने की कोशिश कर रहा है। पुरातनपंथी दकियानूसी, अंधविश्वासी संस्कारों को वैज्ञानिक तकनीक के सहारे पुनर्स्थापित

करने की कोशिश मीडिया द्वारा की जा रही है। मीडिया का प्रबंध तंत्र, प्रचार तंत्र, प्रसार तंत्र अपने जातिगत और वर्गागत हितों की पूर्ति करता है। भुखमरी, ग्रीबी, बेरोज़गारी अन्याय, अत्याचार, अपमान एवं भ्रष्टाचार जैसे मुद्दे उनके लिए कोई मुद्दा ही नहीं हैं। ये सिर्फ़ उसके लिए सनसनी पैदा करने के साधन मात्र हैं। मीडिया लोकतंत्र के सजग प्रहरी के रूप में कार्य करें तभी उसकी सार्थकता है अन्यथा उसकी छवि शासन जातियों के भोंपू के रूप में बनी रहेगी। लोकतंत्र के प्रमुख स्तंभ के रूप में मीडिया निष्पक्ष भूमिका का निर्वाह करे एवं सरकार व नागरिकों के बीच सेतु के रूप कार्य करके लोकतंत्र को मजबूत कर सकते हैं।

भ्रष्टाचार विकास की सभी परियोजनाओं को ध्वस्त कर रहा है। राजनीतिक नेतृत्व, प्रशासनिक यंत्र एवं औद्योगिक घराने सरकारी पैसे को व्यक्तिगत हितों की पूर्ति में इस्तेमाल कर रहे हैं जिस कारण अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे हैं। बड़े गर्व से स्वीकार किया जाता है कि सिर्फ़ एक रुपये में पहले 15 पैसे अब सिर्फ़ पांच पैसे ख़र्च होते हैं। बाकी सब भ्रष्टाचारी बिचौलियों की भेंट चढ़ जाता है। कानून उनके सामने असहाय है, न्याय गिर्गिड़ाता है एवं लोकतंत्र फरियाद करता है बहुत से अन्य मामलों में अतिसक्रियता दिखाने वाली न्यायपालिका का दोषियों को दंड न दे पाना एक गंभीर चिंता का विषय है। आम नागरिक भ्रष्टाचार की दलदल में फंस चुका है तथा भ्रष्टाचारी उसके खून-पसीने की कमाई से एशोआराम की ज़िंदगी बसर कर रहे हैं, उसके पास दलदल से निकलने का कोई रास्ता नहीं है।

राजनीतिक लोकलाज को किस प्रकार से समावेशी लोकतंत्र में रूपांतरित किया जाए जहां सभी मनुष्यों एवं समूहों को अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार महत्व मिल सके एवं प्रत्येक नागरिक स्वयं को राष्ट्र का समान एवं सम्मानित नागरिक महसूस कर सकें। यही हमारे लोकतंत्र के सामने बड़ी चुनौती है। सभी नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा करने में सक्षम हो तथा दूसरे के अधिकारों को छीनने की चेष्टा न करें। उन्हें इस मानवीय नैतिकता का बोध हो, एक व्यक्ति एक मत एवं एक मत एक मूल्य के सिद्धांत को स्वीकार करने का प्रबंधन हो, परिस्थितियां हों तभी भारत में

समावेशी लोकतंत्र स्थापित हो पाएगा।

भारत में लोकतंत्र स्थापित करने का एक ही मार्ग है और वह है संविधान के बनाए रखस्ते पर चलते हुए हर व्यक्ति, समूह एवं संगठन उसे अपना व्यक्तिगत, सामूहिक व सांगठनिक घोषणा-पत्र स्वीकार करें। संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करके ही नागरिक समाज का निर्माण किया जा सकता है। यदि कुछ व्यक्ति समूह या समुदाय अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं उन्हें प्राप्त करने में सक्षम हैं और बहुसंख्यक अपनी पिछड़ी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि के कारण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं हैं उन्हें प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते हैं तो इन परिस्थितियों में नागरिक समाज का निर्माण नहीं हो सकता। नागरिक समाज लोकतंत्र की बुनियाद है जिसमें सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास करने के समान अवसर उपलब्ध हों अन्यथा शासक समूह बहुसंख्यक समाज पर अपनी जातिगत नैतिकता का आधिपत्य स्थापित कर लेगा।

यही अवसरों की असमानता वैयक्तिक नेतृत्व को स्वीकारने या नकारने का आधार बनती है। चेतनाशून्य व्यक्ति एवं समाज जागरूक व्यक्ति को अपना आदर्श मानने लगता है एवं व्यक्ति पूजा के जाल में फ़सने लगता है। व्यक्ति पूजा लोकतंत्र का विलोम है दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, अपनी कमज़ोरी को दूसरे की शक्ति से छिपाना निर्भरता है। कायरता है, यह लोकतंत्र की अधोगति है, जब मनुष्य स्वयं अपने अच्छे-बुरे का निर्णय कर सके तथा अच्छे उद्देश्य को प्राप्त करने में सक्षम हो, तो उसका नैतिक विकास हो जाता है। यही उसका सशक्तीकरण है, प्रबुद्धिकरण है। यही भारत में प्रबुद्ध लोकतंत्र के निर्माण की प्रक्रिया का पहला चरण है जहां सशक्त व्यक्ति नागरिक समाज का सदस्य होकर दबे-कुचले लोगों की निर्भरता को समाप्त करने में उनका सहयोग करता है। यह सही अर्थों में लोकतंत्र को सार्थक करता है जब सभी व्यक्ति अपने स्वावलंबन (आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक) को प्राप्त कर लेते हैं तो प्रबुद्ध लोकतंत्र अत्तोदीप भवः के रूप में प्रकाशमान हो जाएगा। □

(लेखक दयाल सिंह कॉलेज में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। लेख में व्यक्त विचार लेखक के निजी विचार हैं।)

महिलाओं का राजनीतिक सशक्तीकरण समावेशी लोकतंत्र हासिल करने की याह

● मधुश्री दासगुप्ता चटर्जी

लंबे समय तक औरतों को राजनीतिक जीवन से इस आधार पर बंचित रखा गया, क्योंकि सोच यह थी कि राजनीतिक गतिविधियां पुरुषों के एकाधिकार की व्यवस्था है। पिछले बीस सालों में समावेशी लोकतंत्र की दिशा में काफी प्रगति देखी गई है और सार्वजनिक जीवन से महिलाओं को संतुलित और समान प्रतिनिधित्व मिला है

समावेशी लोकतंत्र की अवधारणा किसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सभी की भागीदारी सुनिश्चित करती है और तय करती है कि इस प्रक्रिया में कोई छूट न जाए। यह प्रक्रिया हमें उन रास्तों की समीक्षा करने और उन्हें इस दृष्टि से ढालने का अवसर देती है, जिसमें हाशिये के लोग, खासकर महिलाओं को राजनीतिक प्रक्रिया में बाबर का भागीदार बनाए जाने की भावना निहित है।

समावेशी लोकतंत्र प्रत्यक्ष राजनीतिक लोकतंत्र की परियोजना, सामाजिक संगठन का एक प्रकार है, जो समाज को आर्थिक, राजनीतिक और प्राकृतिक तरीके से फिर से पुनर्समन्वित करती है। यह प्रक्रिया दो बड़ी ऐतिहासिक परंपराओं से निकली है, एक विशुद्ध लोकतांत्रिक प्रक्रिया और दूसरी समाजवादी प्रक्रिया। इसके तहत प्रत्यक्ष रूप से लोकतंत्र और मानव अधिकारों के बीच एक अंतर्संबंध देखा जाता है, जो महज सामान्य अधिकारों से बढ़ा है। संपन्न लोगों और बंचितों के बीच की खाई को पाटने का उद्देश्य एक समावेशी मॉडल की मांग करता है। यह सिफ़्र कानून का अधिकार दे देने और महिलाओं को समानता के स्तर पर ला देने से ही नहीं होगा, बल्कि महिलाओं को उपयुक्त और समुचित सक्षमता की ताक़त भी देनी होगी, ताकि सामाजिक और राजनीतिक मंच पर वे अपनी



आवाज मजबूती से उठा सकें। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मजबूत लोकतंत्र वही है, जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों के बीच असमानता, सामाजिक तनाव और क्रोध की कोई गुंजाइश न रहे।

भारत इस अर्थ में लोकतंत्र है कि भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को जाति, वर्ण, धर्म और लिंग में विभेद किए बिना सभी को समानता, स्वतंत्रता और सभी के लिए न्याय सुनिश्चित किया है। एक अहम मुद्दा महिलाओं को सामाजिक और आर्थिक रूप से राजनीतिक सशक्तीकरण के माध्यम से मुक्ति

देनी है। औरतों का राजनीतिक सशक्तीकरण पंचायतों में आरक्षण के माध्यम से आया है और समावेशी लोकतंत्र की सबसे बड़ी मिसाल है, जिसमें लोक संस्थाओं को महिलाओं के प्रति संवेदनशील बनाया गया है। अगर भारत को समावेशी लोकतंत्र बनाना है, तो राजनीतिक सशक्तीकरण बेहद विश्वसनीय मॉडल है, जिसके माध्यम से न सिफ़्र औरतों को प्रतिनिधित्व मिलता है, बल्कि इस कम प्रतिनिधित्व वाले और बंचित तबके को भारतीय समाज में प्रशासनिक प्रतिनिधित्व भी मिलता है।



भारतीय लोकतंत्र में चुनावों की भूमिका

● वैभव सिंह

भारतीय लोकतंत्र चुनौतियों के बीच निरंतर विकसित होता लोकतंत्र है। ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिरोध करते हुए प्राप्त होने वाली स्वतंत्रता के साथ ही लोकतंत्र की स्थापना को इस बात का प्रमाण बताया जाता रहा है कि भारत ने साम्राज्यवाद को परास्त कर वास्तविक सत्ता आम जनों के हाथों में दी है, न कि कुलीनों के किसी खास वर्ग यह किसी खास राजनीतिक दल को अकेले शासन करने की छूट प्रदान की है। इतिहास देखने पर लगता है कि राजनीतिक लोकतंत्र और वयस्कों को मिलने वाले मताधिकार ने भारतीय लोकतंत्र की यात्रा की शानदार शुरुआत कर दी ताकि देश को नियोजित प्रक्रिया से इस सामाजिक अधिकार, सामाजिक विकास, आर्थिक प्रगति और ढांचागत लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें। पड़ोसी देश पाकिस्तान या बांग्लादेश के हालात के विपरीत लोकतांत्रिक संस्थाओं का ही विकास करने पर जोर दिया गया, न कि लोकतंत्र के संकटों को हल करने के लिए सैन्य शासन के विकल्प को अपनाने पर। भारतीय सेना नागरिक जीवन में अहस्तक्षेप की भूमिका निभाती रही और उसके धर्मनिरपेक्ष चरित्र को भी बरकरार रखा गया। इसी के साथ आम चुनावों की भी लोकतंत्र से जुड़े मुद्दों को निरंतर बहस में बनाए रखने, सार्वजनिक महत्व के नये विषयों को केंद्र में लाने तथा राजनीतिक दलों की अकर्मण्यता को तोड़ने में केंद्रीय भूमिका रही है। भारत में दुनिया के सबसे अधिक मतदाता हैं जिनकी संख्या 70 करोड़ से अधिक हो चुकी है। इसी तरह राजनीतिक दलों की संख्या

भी बढ़ी हैं और मौजूदा 250 के क्रीब इन दलों में मुख्य रूप से क्षेत्रीय दल अधिक हैं।
वास्तविक मुद्दे नदारद

भारतीय लोकतंत्र में चुनाव सबसे विराट कार्याई की तरह देखा जाता है और चुनावों को भारत के लोकतंत्र की निरंतरता का सबसे सटीक प्रमाण माना जाता है। इन चुनावों की पद्धति संसदात्मक प्रवृत्ति की होने के कारण सुशूर गांवों तक इसका व्यापक प्रभाव है। राष्ट्रीय जीवन में चुनावों का अनिवार्य स्थान बन गया है। दिल्ली की गदी बंगल या बिहार के किसी छोटे से गांव तक के लोगों के लिए अहम बना दी जाती है। इस तरह स्थानीय और राष्ट्रीय, दोनों किस्म के मुद्दे चुनावी प्रचार और पार्टियों के घोषणा-पत्र में स्थान रखते हैं। स्थानीय समस्याओं को वृहत्तर संदर्भ में देखने का सही राजनीतिक प्रशिक्षण भी कई बार चुनावी गतिविधियों के बीच से ही साकार होता है। जैसे कि 2009 के आम चुनावों में सत्तारूढ़ दल के नेता स्थानीय लोगों के बीच यह संदेश लेकर गए कि हमने विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बावजूद जनहितकारी योजनाओं को लागू किया और देश इस बड़े संकट को सफलतापूर्वक झेला। हालांकि यह भी सत्य है कि प्रायः चुनावों में लोगों को वास्तविक मुद्दों से काटकर संप्रदायवाद, क्षेत्रीय संकीर्णता, मिथ्या वादों तथा छद्म मुद्दों तक सीमित करने का काम भी बड़े पैमाने पर होता है। जिन इलाकों में किसानों के पास अनाज तथा सिंचाई की समस्या है, वहां भी अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की दुहाई देने के लिए नेता पहुंच जाते हैं। यहां तक कि कई समस्याएं सीधे

चुनावों से जुड़ी हैं जैसे- राजनीतिक हिंसा, धर्मिक-जातीय समुदायों के बीच विद्वेष, काले धन का प्रयोग और जनसंचार के माध्यमों का दुरुपयोग आदि। देश के कई क्षेत्र अभी भी ऐसे हैं जहां चुनाव के समय कार्यकर्ताओं के वेष में स्थानीय दबंगों की भर्ती शुरू हो जाती है। पहले बाहुबल से धनबल प्राप्त होता था पर अब धनबल से बाहुबल को अस्थायी रूप से जुटाकर उसका दोहन किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आपाराधिक मामलों में सजा प्राप्त लोगों को चुनाव के लिए अयोग्य ठहराने के निर्णय ने निश्चित रूप से राजनीति में कैरियर खोज रहे लोगों को अपराध से दूर रहने के लिए मज़बूर किया है पर अपराध के दरों सूक्ष्म रूप या पुलिस के पास न पहुंचने वाले अपराध बदस्तूर जारी रहते हैं। इसी तरह कई क्षेत्रों में चुनावी परिणाम को प्रभावित करने के लिए निर्दलीय प्रत्याशी या मौसमी दलों के नाम पर प्रत्याशी चुनाव में खड़े किए जाते हैं जिन्हें बिहार-यूपी में 'वोटकटवा' कहा जाता है और कई क्षेत्रों में लोभ, दबाव या बल प्रयोग से उन्हें चुनावी मैदान से हटाया जाता है। चुनाव में जीतने वाले निर्दलीय प्रत्याशी बाद में सरकारों के गठन, खासतौर पर राज्य सरकारों के गठन में बड़ी भूमिका निभाते हैं। झारखंड, बिहार, हरियाणा आदि राज्यों की अल्पमत सरकारें इन्हीं निर्दलीय विधायकों से सौदेबाजी करने, उन्हें मंत्री पद तथा विभिन्न प्रकार से आर्थिक लाभ पहुंचाने पर टिकी हुई हैं।

चुनाव प्रचार उद्योग

वर्तमान चुनावी व्यवस्था में चुनाव प्रचार उद्योग का रूप ले लिया है जिसमें टीवी एंकर,

खिलाड़ी, फ़िल्म कलाकार, विज्ञापन एजेंसियां और समाचार-पत्र सभी इस प्रचार उद्योग में किसी न किसी रूप में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। टीवी चैनलों की वृद्धि ने चुनावी विषयों और प्रचार के पैटर्न पर सर्वाधिक असर डाला है। कुछ साल पहले एक अमरीकी विश्लेषक ने टेलीविजन और अमरीका के राष्ट्रपति चुनाव के बीच संबंधों पर लिखते हुए कहा- कमोवेश भारतीय राजनीतिक स्थिति भी लगभग ऐसी ही हो गई है जिसमें टेलीविजन को ध्यान में रखकर राजनेता अपनी सारी तैयारियां करते हैं कि क्या बोलना है और किस तरह बोलना है। अभी तक जनता में यह विश्वास कायम है कि टीवी पर तटस्थता और वस्तुनिष्ठता का पालन होता है, जबकि सच्चाई अब ऐसी नहीं रही है। लेकिन जनसंचार के माध्यमों पर जनता का भरोसा सबसे अधिक उन राजनीतिक दलों के काम आ रहा है जो पानी की तरह पैसा बहाकर इन माध्यमों को नियंत्रित करने की शक्ति रखते हैं। पिछले लोकसभा चुनावों में ‘पेडन्यूज़’ की विकाराल स्थिति सामने आई जब अख़बारों में राजनेताओं की चुनावी रैलियों, घोषणाओं और चुनावी दैरों के विज्ञापन खबरों के रूपाकार में छपने लगे और अख़बार यह कोशिश करने लगे कि पाठक चुनावी विज्ञापनों को समाचार के रूप में ही पढ़ें क्योंकि समाचारों की विश्वसनीयता हर हाल में विज्ञापनों से अधिक मानी जाती है। यह पाठकों के साथ धोखाधड़ी है क्योंकि पाठकों को पता ही नहीं चल पाता कि वे जिसे समाचार मानकर पढ़ रहे हैं, वह वास्तव में विज्ञापन है। इस तरह के विज्ञापन से कर संबंधी कानूनों को लागू करने तथा चुनावी ख़र्च का वास्तविक ब्यौरा एकत्र करने में भी बड़ी समस्या आती है। स्थिति तब हास्यास्पद हो जाती है जब व्यावसायिक विज्ञापन और राजनीतिक विज्ञापन के बीच अंतर भी मिटने लगता है और राजनीतिक श्रेणी के लोग स्वयं का प्रचार जैसे ही करते हैं जैसे कॉफी, कपड़े या दंतमंजन का विज्ञापन किया जाता है। टेलीविजन पर अपनी ‘स्वच्छ छवि’ को प्रस्तुत करना राजनीतिक दलों के लिए विशेष तौर पर अनिवार्य हो गया है। प्रचार के इन तौर-तरीकों ने चुनावी ख़र्च काफी बढ़ा दिया है और साथ ही मुख्य राजनीतिक दलों को मीडिया विशेषज्ञों, विज्ञापन एजेंसियों तथा विशेष सलाहकारों पर

निर्भर बना दिया है और वास्तविक जनता से संपर्क की कड़ियां कमज़ोर पड़ रही हैं। इससे छोटे दलों, ईमानदार प्रत्याशियों या स्थानीय कमज़ोर वर्ग के बीच काम कर रहे लोगों को नुक़सान होता है क्योंकि टीवी-अख़बार की ख़बरों तेज़ी से फैलकर साधनसंपन्न दलों को लाभप्रद स्थिति में पहुंचाने का प्रयास किया जा रहा था। इससे पूर्व भी 2011 में तमिलनाडु में 36.54 करोड़, 2012 में उत्तरप्रदेश में 36.29 करोड़ और आंध्र प्रदेश से 30.65 करोड़ रुपये जब्त किए गए जिनके किसी स्रोत का पता नहीं लगाया जा सका। स्वयं कानून मंत्री अश्विनी कुमार ने राज्यसभा में यह स्वीकार किया कि भारत के हर स्तर के चुनावों में कालेधन का प्रकोप तेज़ी से बढ़ा है और इस कारण चुनावी गतिविधियों में भ्रष्टाचार तेज़ी से फैल रहा है। विधि आयोग से भी इस संबंध में सुझाव आमंत्रित किए गए हैं ताकि चुनाव आयोग उसकी अनुशंसाओं के आधार पर इस बुराई को मिटाने के लिए सख्त और आवश्यक कदम उठा सके।

चुनाव सुधार की आवश्यकता

देश में चुनावों में सुधार के लिए पिछले कई दशकों से निरंतर प्रयास किए जा रहे हैं। यह भी अनुभव रहा है कि इस प्रकार के सुधार एक झटके में नहीं किए जा सकते बल्कि यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। चुनाव सुधार प्रक्रिया को समाज से सभी वर्गों चाहें वे राजनेता हो, बुद्धिजीवी हो, प्रेस से जुड़े लोग हों या न्यायपालिका, सभी की इसमें हिस्सेदारी होनी चाहिए। चुनाव भारतीय लोकतंत्र के स्वास्थ्य को प्रतिबिंबित करते हैं और प्रयास होने चाहिए कि चुनावों की भूमिका लोकतंत्र को दूषित करने में नहीं बल्कि उसे अधिक कारगर बनाने की हो। विभिन्न प्रकार की समितियों का निर्माण करने उनसे इस संबंध में अनुशंसाएं आमंत्रित की जाती रही हैं। तारकुंडे समिति रिपोर्ट (1975), गोस्वामी समिति रिपोर्ट (1990), चुनाव आयोग अनुशंसाएं (1998) और इंद्रजीत गुप्ता समिति रिपोर्ट (1998) ने समय-समय पर चुनाव सुधारों के क्षेत्र में प्रयास किए हैं। चुनावों के विकासक्रम को इस बात से भी समझा जा सकता है कि पहली बार पांचवें आम लोकसभा चुनावों में (1971) में चुनाव आचार संहिता को लागू किया गया, यह मानकर कि

(शेषांश पृष्ठ 70 पर)

संचार क्रांति के संवाहक की विदाई

● अरविंद कुमार सिंह

संचार क्रांति के तार रहे हैं तार या टेलीग्राम। इनकी भारत से 14 जुलाई, 2013 की रात सदा के लिए विदाई हो गई। और इसी के साथ संचार क्रांति के आरंभिक इतिहास का एक दौर समाप्त हो गया। वैसे तो दुनिया के तमाम देशों से सरकारी क्षेत्र से टेलीग्राम विदा हो चुका था लेकिन निजी क्षेत्र में बहुत जगह ये सेवाएं चल रही हैं। भारत में सरकारी क्षेत्र में अभी तक संचार क्षेत्र के उपक्रम भारत संचार निगम लिमिटेड ने इस सेवा को बरकरार रखा था। सरकारी विभागों, सेना और न्यायपालिका के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता बरकरार थी लेकिन टेलीग्रामों की संख्या में लगातार कमी आ रही थी। मोबाइल और इंटरनेट क्रांति को टेलीग्रामों की विदाई के लिए सबसे अहम कारक माना जाता है। हालांकि इसके बाद भी 2006 में रोज़ क़रीब अब 22 हजार टेलीग्राम आ रहे थे। लेकिन 2010 में इनकी संख्या घट कर 8,513 और अब रोज़ 5,000 रह गई थी। इस क्षेत्र में लगातार बढ़ रहे घाटे के चलते इस सेवा को बंद करने का फ़ैसला लिया गया।

दरअसल, टेलीग्राम पांच पीढ़ियों से खुशी और गम के तमाम संदेशों को पहुंचाते रहे हैं। शासन-प्रशासन में इनका इतना महत्व रहा कि अंग्रेजों ने इसे 'इंजन ऑफ पावर' कहा। वहीं जब हमें आजादी मिली तो ये विकास में अहम कारक बनें। टेलीग्रामों को अर्जेंसी का पर्याय माना गया। और इस शब्द जितनी ताकत और मनोवैज्ञानिक दबाव न मोबाइल में है न ई-मेल में। इसने मुहावरा गढ़ दिया कि 'चिठ्ठी नहीं तार समझना।' पहले टेलीग्राम आते ही रोना-पीटना मच जाता था लेकिन धीरे-धीरे लोगों की धारणा एं टूटी। उनको लगा कि मौत ही नहीं जन्म का संदेश, ट्रांसफर-पोस्टिंग, आगमन-प्रस्थान, मौसम, युद्ध और अख़बार से लेकर रेडियो तक न जाने कितने संदेशों को

लाता है तार। हमारी सेना, केंद्रीय अर्द्धसैन्य बलों के जवानों के बीच और बहुत से क्षेत्रों में इसने अनूठी सेवा की। सरकारी संचार और कानूनी मामलों में इसे कानूनी सबूत माना गया। फौजदारी या दीवानी मामलों में कोर्ट तार या उसकी रसीद को सबूत मानती थी। तमाम जगहों पर भर्ती में सफल होने वालों को टेलीग्राम से बुलावा भेजा जाता था और आम नागरिक राष्ट्रपति से लेकर प्रधानमंत्री और कलेक्टर से लेकर एसपी तक को फरियाद टेलीग्राम भेजकर करता था। इसी तरह चुनाव में धांधली की शिकायत हो या फौजियों को छुट्टी लेनी हो, सब में टेलीग्राम ही काम आता था।

लेकिन टेलीग्राम सेवा को बंद करने के पीछे तक़ दिया गया कि उससे बेहतर, तेज़ रफ़्तार और किफ़ायती सेवाएं आ गई हैं तो इसे जारी करने का मतलब नहीं रहा। 2006 से अब तक इस सेवा से बीएसएनएल को 15 सौ करोड़ रुपये का घाटा हुआ। टेलीग्राम सेवा बीएसएनएल के पास सन 2000 में आई तो ठीक चल रही थी। 2011 से विदेशी तार बंद करने के साथ मई 2011 से टेलीग्राम सेवा का न्यूनतम चार्ज 30 शब्द सीमा में 28 रुपये कर दिया। तारघरों को एक-एक करके बंद किया जाने लगा। 2008 में तार घरों में 22,500 कर्मचारी थे जो अब घटकर 989 रह गए थे। 2008-09 में सबसे ज्यादा 6,931 तारघर बंद हो गए। फिर 2009 में 659 और 2010 में 70 तारघरों को बंद कर दिया गया। भारत में 1985 में 45 हजार तारघर थे जो घटकर अब 75 ही बचे थे। लेकिन इन पर सालाना 130 करोड़ का ख़र्च आ रहा था और कमाई थी महज 75 लाख। लेकिन इसकी सामाजिक उपादेयता थी। फिर भी सेवा बंद करते समय न कर्मचारियों से बात की गई न ही इसके उपयोगकर्ताओं से। जबकि भारत में अभी करोड़ों लोगों के

पास न फोन है न इंटरनेट। उनके लिए आपात स्थिति में टेलीग्राम ही सबसे बड़ा सहारा था। किसी व्यक्ति के साथ अन्याय होता था और पुलिस रिपोर्ट नहीं लिखती तो टेलीग्राम से वह अधिकारियों को सूचित कर सकता था। फिर भी रिपोर्ट न लिखी जाती तो टेलीग्राम की प्रति की मदद से वह कोर्ट की शरण ले सकता था।

टेलीग्राम दुनिया के सबसे महत्व के आविष्कारों में से एक रहा। इसके जनक थे सैम्युल एफ.बी. मोर्स। टेलीग्राम के पहले व्यक्तिगत परिवहन संचार तंत्र भी था, यानी आप खुद जाएं या कोई और उस संदेश के साथ जाए। कई जगह कबूतर तो कहीं धुंए के सिगनल काम आते थे। लेकिन इनका दायरा बहुत छोटी दूरी का था। टेलीग्राम के उद्य के साथ परिवहन और संप्रेषण में अंतर आया। टेलीफोन, वायरलेस और सेटेलाइट फोन सबकी बुनियाद आगे इसी पर रखी गई। इस क्रांतिकारी हथियार ने कम से कम शब्दों में संदेश का सलीक़ा हमें सिखाया और शब्दकोशों को तमाम नये शब्द भी दिए।

यह संयोग ही था कि टेलीग्राम का आविष्कार बिजली की कोख से हुआ। सैम्युल एफ.बी. मोर्स ने चार साल के प्रयासों के बाद 1836-37 में एक यंत्र बनाने में कामयाबी पाई, लेकिन काफी प्रयास के बाद अमरीकी कांग्रेस उसकी बात मानने को तैयार हुई। फिर विश्व की पहली तार लाइन अमरीका में वाशिंगटन और बाल्टीमोर के बीच बिछी। टेलीग्राम का पहला संदेश 23 मई, 1844 को मोर्स ने वाशिंगटन से भेजा जिसे उसके बाल्टीमोर के सहायक अलफ्रेड बेल ने पढ़ा। यही से आरंभ हुआ तार से संदेश भेजना। इस पद्धति को नाम मिला 'मोर्स कोड टेलीग्राफ़।' इसी के जरिये संकेतों से संदेश भेजे जाते थे और भारत में भी यही पद्धति लंबे समय तक चली।

भारतीय लोकतंत्र में ग्रामीण महिला सहभागिता

● अजय कुमार सिंह

गांधीजी का मानना था कि आज्ञादी की शुरुआत निचले स्तर से होनी चाहिए। गांधीजी कहते थे कि “मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा, जिसमें गरीब से गरीब आदमी भी यह महसूस करे कि यह उसका देश है, जिसके निर्माण में उसकी आवाज़ का महत्व है, उसमें स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलेंगे। सारी दुनिया से हमारा संबंध शांति और भाईचारे का होगा। यही है मेरे सपनों का भारत।”

लाई मैटकॉफ 1830 में ग्रामसभा और गांव समाज के बारे में कहते हैं कि “एक राज परिवार के बाद दूसरे राज परिवार का पतन हुआ। एक विप्लव के बाद दूसरा विप्लव आया। हिंदू, पठान, सिख तथा अंग्रेज एक के बाद एक इस देश के शासक बने परंतु ग्राम संस्थाओं में कोई अंतर नहीं आया। भारतीय ग्रामों की यह इकाइयां ही वास्तव में उन्हें उन परिवर्तनों तथा संक्रमणों से बचा सकी हैं जो समय-समय पर यहां आते रहे हैं। देश में सुख, शांति, समृद्धि और स्वतंत्रता का अधिकतर श्रेय इन्हीं ग्रामसभाओं को है।” ग्रामसभाओं की जीवन-शैली को संवाद, सहमति, सहयोग, और सहभागिता जैसे तत्वों से चिह्नित किया जाए तो लोकतांत्रिक जीवन का उच्चतम आदर्श बड़ी आसानी के साथ निरूपित किया जा सकता है।

गांधीजी का मानना था कि आज्ञादी की शुरुआत निचले स्तर से होनी चाहिए। गांधीजी कहते थे कि “मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा, जिसमें गरीब से गरीब आदमी भी यह महसूस करे कि यह उसका देश है,

जिसके निर्माण में उसकी आवाज़ का महत्व है, उसमें स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलेंगे। सारी दुनिया से हमारा संबंध शांति और भाईचारे का होगा। यही है मेरे सपनों का भारत।” लेकिन क्या हम आज्ञादी के बाद गांधीजी के सपनों को पूरा करने में सफल रहे हैं? राष्ट्रीय स्तर पर गरीबों, ग्रामीण क्षेत्रों या आधी दुनिया की सापेक्ष वंचना देखी जा

सकती है। महिलाओं को मुख्यधारा में लाना बहुत जरूरी है और उनके समुचित अधिकारों की पहचान सुनिश्चित करना भी अभी बाकी है।

आज्ञादी के चौथे दशक तक महिलाएं हाशिये पर रही हैं। हमारी राजनीतिक प्रणाली में उनको वोट देने का अधिकार तो है, परंतु राजनीतिक प्रशासन में उनकी भूमिका नाम



मात्र की है। लोकतंत्र की नर्सरी कहे जाने वाले ग्रामसभा में महिलाओं की भूमिका को प्रारंभ से ही संदेह की दृष्टि से देखा गया। प्रारंभ में पुरुष दासता मानसिकता और महिलाओं में व्याप्त निरक्षरता के कारण पंचायतीराज व्यवस्था मजबूत न हो सकी, लेकिन 1992 में 73वां व 74वां संविधान संशोधन द्वारा पंचायतीराज में महिलाओं का प्रतिनिधित्व एक तिहाई किया जाना गांधीजी के सपनों को पूरा करने में एक क्रांतिकारी क़दम था। संविधान सामाजिक क्रांति की अपेक्षा रखता है और यह क्रांति निर्दिष्ट सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप में विधि के प्रयोग के माध्यम से ही लाई जा सकती है। स्त्रियों के लिए समानता की प्राप्ति एक ऐसा विशिष्ट उद्देश्य है, जो उद्देशिका, मूल अधिकारों तथा राज्य के निदेशक सिद्धांतों से उपलक्षित होता है। इन संवैधानिक उपबंधों के प्रभाव और तदनुसार की गई विधिक तथा प्रशासनिक कार्रवाइयों के मूल्यांकन के लिए हमें ऐसी जटिल सामाजिक प्रक्रियाओं की जांच करनी पड़ी जिनमें विभिन्न समूहों के चर सम्मिलित थे, जैसे : (1) आर्थिक और सामाजिक असमानता के अपने बुनियादी ढांचे सहित भारतीय समाज का पंचमेल स्वरूप, (2) समुदाय और वर्ग पर आधारित परंपरागत सामाजिक संरचना में अंतर्निहित असमानताएं तथा स्त्रियों की वे प्रत्याशित भूमिकाएं जिनका उनकी स्थिति पर अत्यंत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है तथा (3) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन की दिशाएं और उनका स्त्रियों की स्थिति पर प्रभाव।

गांधीजी ने ग्रामसभा के गठन में पुरुष और महिलाओं के निर्वाचन का तरीका अपनाया। उनका मानना था कि ग्रामसभा का मुख्य कार्य ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाना और सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए अपने कार्य के प्रति निष्ठावान होना ज़रूरी है। इस कार्य हेतु महिलाओं को सबसे आगे रखा गया, क्योंकि महिलाएं परिवार की ज़रूरतों को पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा समझती हैं। हालांकि प्रारंभ में महिलाएं ग्रामसभा का सक्रिय अंग बनने में दिज़करी थीं। उनकी यह हीनभावना उनके क़दमों को पुनः घर की ओर मोड़ देती थी। 73वें और 74वें संशोधन का मुख्य लक्ष्य ग्रामीण महिलाएं थीं, क्योंकि भारत की

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रवादी आंदोलन के गांधीवादी दौर में महिलाएं बड़ी संख्या में घर की चारदीवारी से बाहर निकली थीं और स्वतंत्रता की लड़ाई में उन्होंने अहम् एवं सक्रिय भूमिका निभाई थीं। आज महिलाएं हर क्षेत्र में पुरुष के साथ क़दम से क़दम मिलाकर अपनी अंतर्निहित क्षमता के बल पर आत्मविश्वास और साहस के साथ पुरुष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व का अहसास करवाने का सफल प्रयास कर रही हैं।

महिलाओं की 80 प्रतिशत आबादी गांवों में ही है और ग्रामसभाओं में उनका सहभागी होना उनके आत्मसम्पान का पहला चरण है।

महिलाओं में यह जागृति लानी होगी कि ग्रामसभा के विकास कार्यों को बढ़ाने में वह सक्षम है व निरक्षरता रूपी बाधा को दूर किया जा सकता है। अपनी शोधयात्रा के दौरान मैंने पाया कि ग्रामसभा के लिए चुनी गई महिलाएं एक तरफ अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाती हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामसभा में सौहार्दपूर्ण माहौल बनाए रखने का काम करती हैं। ग्रामसभा महिलाओं के सफलताओं को निम्न बिंदुओं में देखा गया है:

- विकास कार्यों को नियोजित तरीके से पूर्ण करना।
- विकास कार्यों में प्रत्येक वर्ग की भागीदारी को अनिवार्य और सुनिश्चित बनाना।
- कृषि विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास और शिक्षा को प्रोत्साहित करना।
- वृक्षारोपण।
- सरकार द्वारा चलाए जा रहे विकास कार्यक्रम एवं नीतियों का लाभ तथा कार्यक्रमों की जानकारी महिलाओं को उपलब्ध कराना।
- सरकार को इस बात के लिए मजबूर करना कि टाल-मटोल की बजाय दृढ़निश्चय, आत्मविश्वास एवं ईमानदारी के साथ विकास के लिए कार्य करना।
- सम्पर्क मार्ग का निर्माण।

भारत में वर्तमान समय में भी पुरुष प्रधान समाज व्याप्त है, जिसके चलते महिलाओं की स्थिति दयनीय है और यदि भारत में नवीनता

लाना है तो उसे महिलाओं के संबंध में उचित व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करना होगा, क्योंकि कई स्थानों पर अलग-अलग स्वीकार्य विधियों के कारण महिलाओं के साथ उचित न्याय नहीं हो पाता है। महिलाओं को आधुनिक तकनीकी ज्ञान का व्यापक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे वे अपने परंपरागत ज्ञान को कुशलता के साथ-साथ आधुनिक बना सकें। इससे स्वयं सहायता समूहों पर आधारित गतिविधियों को बढ़ावा देने से संसाधनों का बेहतर उपयोग हो सकेगा। गांधीजी कहते थे कि लोकतंत्र की भावना कोई यांत्रिक वस्तु नहीं है जिसका विकास रूपों का अंत करने से हो जाए। उसके लिए हृदय परिवर्तन आवश्यक होता है।

73वें संशोधन विधेयक को प्रस्तुत करते हुए ग्रामीण विकास राज्यमंत्री ने कहा था कि “हमने प्रत्येक स्तर पर कम से कम एक-तिहाई आरक्षण का प्रावधान रखा है, लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि महिलाएं हमारी आबादी का आधा हिस्सा है, इस आरक्षण को भी अपर्याप्त ही कहा जाएगा।” जहां तक स्त्रियों की स्थिति और उनकी चेतना का सवाल है, तो 1990 का दशक इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है, क्योंकि पिछले 20 वर्षों में स्त्रियों की स्थिति और चेतना में व्यापक बदलाव व विकास हुए हैं। इसी का परिणाम है कि आज स्त्रियां अपनी परंपरिक घरेलू भूमिका से अलग एक नयी भूमिका गढ़ते हुए नज़र आ रही हैं। अधिकांश स्त्रियां अब घर की दहलीज लांघकर अनेक क्षेत्रों में मजबूती के साथ अपने क़दम बढ़ा रही हैं। अतः आत्मविश्वास, आत्मनिर्णय व आत्मशक्ति के बिना सशक्तीकरण स्थापित नहीं किया जा सकता। नज़मा हेपतुल्ला के अनुसार- आरक्षण से महिला की व्यवस्था और सत्ता में भागीदारी बढ़ेगी और वह घर से संसद तक के प्रति जागरूक होंगी। यद्यपि यह सही है कि मात्र ग्राम संस्थाओं में महिलाओं को आरक्षण देने से उनकी स्थिति में सुधार नहीं आएगा बल्कि पुरुष प्रधान समाज को महिलाओं के प्रति अपना नज़रिया बदलना होगा। महिलाओं को राजनीतिक रूप से सशक्त करने के लिए वे पुरुषों की वर्तमान भागीदारी के स्तर को हासिल करने के लिए महिलाओं को आगे आना होगा व स्वयं रास्ता तलाशना होगा। इस हेतु आवश्यकता है पुरुष

की संकुचित मनोवृत्ति में परिवर्तन की। जब से महिलाओं ने ग्रामसभाओं की बागडोर अपने हाथों में ली है तब से उनके पतियों को उनके नाम से जाना जाता है, जैसे- प्रधान पति, पंच पति आदि।

राजनीति में महिलाओं द्वारा सामना की जाने वाली प्रमुख बाधाओं में पहली है, राजनीति का अपराधीकरण या अपराधियों का राजनीतिकरण और दूसरा है राजनीतिक संस्कृति। राजनीतिक संस्कृति में न केवल राजनीतिक प्रक्रिया उलझ जाती है। कई निर्णय पर्दे के पीछे से लिए जाते हैं लेकिन भारतीय समाज में पुरुषों की तुलना में महिला उम्मीदवारों के समक्ष विश्वसनीयता की समस्या ज्यादा होती है। विश्वसनीयता की समस्या तीन तथ्यों के आस-पास घूमती है- योग्यता, दृढ़ता और चुनाव जीतने की क्षमता। हमारी चुनाव प्रणाली मुख्यतः तीन (एम) मनी पावर (धनराशि), 'मसल पावर (बाहुबल) और मिनिस्ट्रील पावर (मंत्री पद की ताक़त अर्थात् सरकारी तंत्र के दुरुपयोग)

से पीड़ित है। इसे तीन (सी) कैश (पैसा), क्रिमिनल (अपराधी, बाहुबली) और करप्सन (भ्रष्टाचार) भी कहा जाता है। निर्वाचन आयोग द्वारा आदर्श चुनाव आचार-संहिता पर सख्ती और प्रभावी ढंग से अमल कराए जाने के कारण सरकारी तंत्र के दुरुपयोग पर अब काफी हद तक रोक लगी है क्योंकि निर्वाचन आयोग चुनावों के दौरान सत्तारूढ़ दल अर्थात् सत्तारूढ़ गठबंधनों द्वारा सरकारी शक्ति के दुरुपयोग पर कड़ी नज़र रख रहा है। गांधीजी का मानना था कि अनुशासनबद्ध और जागृत लोकतंत्र संसार की सुंदर से सुंदर वस्तु है। पूर्वग्रहों से जकड़ा हुआ, अज्ञान में फंसा हुआ तथा अंधविश्वासों का शिकार बना हुआ लोकतंत्र अराजकता के दलदल में फंस जाएगा और खुद ही अपना नाश कर लेगा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रवादी आंदोलन के गांधीवादी दौर में महिलाएं बड़ी संख्या में घर की चारदीवारी से बाहर निकली थीं और स्वतंत्रता की लड़ाई में उन्होंने अहम्

एवं सक्रिय भूमिका निभाई थीं। आज महिलाएं हर क्षेत्र में पुरुष के साथ क़दम से क़दम मिलाकर अपनी अंतर्निहित क्षमता के बल पर आत्मविश्वास और साहस के साथ पुरुष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व का अहसास करवाने का सफल प्रयास कर रही हैं।

पंचायती राज संस्था, जो ज़मीनी लोकतांत्रिक ढांचे का निर्माण करती है, में महिलाओं की भागीदारी में ग्रामीण संरचना को सकारात्मक दिशा की ओर बढ़ाया है। महिलाओं की पंचायत के माध्यम से विकास प्रक्रियाओं एवं निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागिता से एक ओर सामाजिक, राजनीतिक न्याय तथा समानता के मध्य संबंधों को अधिव्यक्त करती हैं तथा दूसरी ओर लोकतांत्रिक जड़ों को मज़बूत करती हैं साथ ही महिलाएं वित्तीय संसाधनों का उचित प्रयोग करती हैं। □

(लेखक वी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में शोधछात्र हैं।
ई-मेल : ajaykumarsingh0@gmail.com)

योजना सदस्यता कृपन

नयी सदस्यता / नवीकरण / पता बदलने के लिए (जो लागू होता हो उस पर '✓' का चिह्न लगाएं।)

मैं (पत्रिका का नाम एवं भाषा) का वार्षिक (100 रुपये) द्विवार्षिक (180 रुपये) त्रिवार्षिक (250 रुपये) सदस्य बनने का इच्छुक हूँ। डिमांड ड्राफ्ट/भारतीय पोस्टल आर्डर/मनीआर्डर संख्या
..... तारीख

नाम

वर्ग विद्यार्थी शिक्षक संस्था अन्य

पता :

पिन

नवीकरण/पता बदलने के लिए कृपया अपनी सदस्य संख्या यहां लिखें :

डिमांड ड्राफ्ट/भारतीय पोस्टल आर्डर/मनीआर्डर अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग के नाम से बनवाएं और कृपन के साथ इस पते पर

भेजें : व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार) प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड-IV, सातवां तल, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

ग्रामीण भारत में जागृति की ज्योति जलाती महिलाएं

● सुभाष सेतिया



महिलाओं के सशक्तीकरण की चर्चा मुख्यतया शहरों तक सीमित रहती है। यहां हम उन साहसी और कर्मशील महिलाओं की उपलब्धियों की चर्चा कर रहे हैं जो गांवों में रहकर साथी महिलाओं के जीवन के साथ-साथ समूचे ग्रामीण समाज का कायाकल्प करने की साधना में चुपचाप लगी हुई हैं।

पिछले वर्ष दिसंबर में दिल्ली में सामूहिक बलात्कार की शर्मनाक वारदात के बाद देशभर में जनजागरण के जो आंदोलन देखने में आए, उससे महिलाओं की स्थिति बदलने और उन्हें सक्षम एवं आत्मनिर्भर बनाने का विषय फिर से फ़ोकस में आ गया है। इस जन जागरण के प्रभाव से समाज और सरकार के स्तर पर अध्यादेश जारी करने समेत अनेक क़दम उठाए गए हैं। 14 फरवरी, 2013 को वेलेंटाइन डे पर ‘वन बिलियन राइजिंग’ अभियान चलाया गया, जिसमें देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के ज़रिये महिलाओं की सुरक्षा पर बल दिया गया। इससे पहले भी समाज की मानसिकता बदलने तथा औरतों के साथ भेदभाव व अन्याय समाप्त करने की मांगें उठती रही हैं। यदि इस दिशा में और मजबूत क़दम उठाए जाते हैं तो देश में महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान में निश्चित तौर पर वृद्धि होगी लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि महिला सशक्तीकरण और जागरण की दिशा में अब तक जो काम हुए हैं, वे

व्यर्थ गए हैं। एक मत यह है कि महिलाओं के स्वावलंबन और स्वतंत्रता से चिढ़कर ही कुछ सिरफिरे लोग बलात्कार तथा अन्य प्रकार के हिंसक वारदात करने पर उतारू हो रहे हैं।

अधिकतर महिलाओं के सशक्तीकरण की चर्चा मुख्यतया शहरों तक सीमित रहती है। यहां हम उन साहसी और कर्मशील महिलाओं की उपलब्धियों की चर्चा कर रहे हैं जो गांवों में रहकर साथी महिलाओं के जीवन के साथ-साथ समूचे ग्रामीण समाज का कायाकल्प करने की साधना में चुपचाप लगी हुई हैं। इनमें अनपढ़, पढ़ी-लिखी, युवा, प्रौढ़, निर्धन, धनी सब तरह की महिलाएं शामिल हैं जो अपने-अपने स्तर पर निजी अथवा सामूहिक प्रयासों से यह सिद्ध कर रही हैं कि महिलाओं में नेतृत्व क्षमता की कमी नहीं है और कई प्रकार के बंधनों और सामाजिक वर्जनाओं के बावजूद वे सामाजिक बदलाव लाने में किसी भी तरह पुरुषों से पीछे नहीं हैं। हमारे यहां गांवों का समूचा जीवन कृषि पर निर्भर है। हालांकि कृषि और उससे जुड़ी अन्य

गतिविधियों में महिलाओं की प्रत्यक्ष व परोक्ष भागीदारी पुरुषों से अधिक है किंतु सामान्यतः उन्हें कृषिकार या किसान नहीं माना जाता और उनके कामों को गंभीरता से नहीं लिया जाता। किंतु हम आपको ऐसी महिला से परिचित करा रहे हैं जो न केवल स्वयं खेती करने में निपुण है बल्कि दूसरी औरतों को भी कृषि प्रबंधन सिखा रही हैं।

बिहार के मुजफ्फरपुर ज़िले के आनंदपुर गांव की राजकुमारी अपने गांव तथा आस-पास के अनेक गांवों में अपने सेवा कार्यों के कारण ‘किसान चाची’ के नाम से मशहूर है। राजकुमारी शुरू से ही प्रगतिशील और महत्वाकांक्षी लड़की थी। वह अध्यापिका बनना चाहती थीं लेकिन किन्हीं कारणों से नौकरी नहीं कर पाई। शादी के बाद वह आनंदपुर में आई तो इलाक़े के लोगों को तंबाकू, गांजे आदि के नशे का शिकार होकर अपना और परिवार के जीवन को नष्ट करते हुए देखकर बहुत दुखी हुई। बड़े-बूढ़ों से बात करके उन्हें लगा कि तंबाकू और गांजे की

खेती के कारण लोगों को ये नशीले पदार्थ आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। राजकुमारी ने सामाजिक और आर्थिक बदलाव की इस भारी चुनौती को स्वीकार करते हुए स्वयं खेती के क्षेत्र में उतरने का फ़ैसला किया।

एक महिला के लिए किसान बनकर दूसरे किसानों को पुश्टैनी कृषि प्रक्रिया को छोड़ने के लिए तैयार करना टेढ़ी खीर थी। राजकुमारी बताती हैं कि स्वयं उनके श्वसुर को भी यह स्वीकार नहीं था कि उनकी बहू घर की देहरी लांघकर पराए मर्दों के बीच जाकर काम करे। किंतु राजकुमारी को अपने पति अवधेश चौधरी का पूरा समर्थन प्राप्त था। राजकुमारी ने परंपरागत फ़सलों के स्थान पर व्यावसायिक खेती शुरू करने का रास्ता अपनाया। सबसे पहले उन्होंने अपने परिवार के 18 बीघा खेत में केले, आम, पपीते और लीची के बाग लगाए। पहले-पहल लोगों ने उनका मज़ाक उड़ाया और उनकी बात मानने से इंकार किया। कुछ समय बाद जब फलों की खेती से उनके परिवार की आय बढ़ने लगी तो कुछ लोग फलों और सब्जियों की खेती की तरफ आकर्षित होने लगे। तब राजकुमारी ने किसानों को तंबाकू और गांजे की खेती की हानियों के बारे में समझाया तो बात उनकी समझ में आने लगी। कृषि और बागवानी विभाग के अधिकारियों का भी आनंदपुर में हो रहे इस बदलाव की ओर ध्यान गया और उन्होंने किसानों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था की। राजकुमारी ने दूसरा काम यह किया कि इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में गांव की औरतों को भी भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। वे दूसरे गांवों में जाकर औरतों से मिलतीं और उन्हें खेती करने की सलाह देतीं। यही नहीं, उन्होंने महिलाओं के स्वयं सहायता समूह भी बनाए। इस समय सरैया ब्लॉक में 350 से अधिक महिलाओं की सदस्यता वाले 35 स्वयं सहायता समूह काम कर रहे हैं। इस तरह राजकुमारी ने अपने इलाके में जहां नशाखोरी पर अंकुश लगाया और किसानों की आर्थिक स्थिति सुधरी, वहीं महिलाओं को जागरूक तथा आत्मनिर्भर बनाने का काम भी किया। आज भी किसान चाची साइकिल पर सवार होकर आस-पास के गांवों में विकास की अलख जगा रही हैं। कई अन्य महिलाएं भी उनके साथ जुड़ गई हैं।

राजस्थान के राजसमंद ज़िले के गांव विजयपुरा की रूक्मणि देवी विशिष्ट ढंग से गांव की महिलाओं का जीवन स्तर सुधार रही है। रूक्मणि देवी ने विजयपुरा गांव की सरपंच के रूप में अच्छे और ईमानदार प्रशासन तथा लोक कल्याण के कार्यक्रमों के माध्यम से पूरे इलाके में अपने और अपने गांव के नाम का डंका बजा दिया है। उन्होंने सूचना के अधिकार का उपयोग करके प्रशासन को चुस्त और पारदर्शी बनाने में सफलता प्राप्त की है। रूक्मणि देवी ने इस आम धारणा को एकदम निराधार साबित कर दिया है कि महिला पंच और सरपंच अपने परिवार के पुरुष सदस्यों की कठपुतली की तरह काम करती हैं। पंचायत में होने वाले हर निर्णय की पुख्ता सूचना ग्रामवासियों को दी जाती है और पंचायत की कोई भी बैठक किसी भी हालत में टाली नहीं जाती। पहले गांव की महिलाओं को विधवा पेंशन नहीं मिल रही थी। पंचायत में आने के बाद रूक्मणि देवी ने सूचना के अधिकार के तहत सारी जानकारी मार्गी जिससे प्रशासन में चुस्ती आई और आज गांव की 85 विधवाओं को पेंशन मिल रही है। सूचना के अधिकार के सतत प्रयोग के कारण पूरे ज़िले में विजयपुरा गांव का रौब जम गया है और गांव तथा ग्रामवासियों का कोई काम नहीं रुकता। पंच बनने से पहले रूक्मणि देवी स्वयं मनरेगा में श्रमिक के रूप में काम कर चुकी हैं। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने मनरेगा को एकदम चुस्त तथा पारदर्शी ढंग से चलाया और कोई गड़बड़ी नहीं होने दी। महिलाओं की दिक्कतों का ख़ास ध्यान देने के कारण रूक्मणि देवी महिलाओं की सर्वसम्मत नेता बन गई हैं।

राजस्थान के ही किशनगढ़ ज़िले की दलित महिला नौरोती ने भी अपनी नेतृत्व तथा प्रशासनिक क्षमता के कारण चर्चा में है। तारादेवी के बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि वे हैं तो दलित लेकिन अनारक्षित सीट पर नोसेरा गांव की सरपंच चुनी गई। सरपंच के रूप में शिशु कन्याओं की सुरक्षा की दिशा में किए गए कामों ने उन्हें विशेष ख्याति दिलाई। नोसेरा गांव में किए गए सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया है कि अस्पताल या डिस्पेंसरी आदि की बजाय घर में प्रसव अधिक होने के कारण लड़कियां मर जाती हैं या मार दी जाती हैं। तारादेवी ने अन्य संगठनों, विशेषकर महिला संगठनों की मदद से अस्पतालों में प्रसव को बढ़ावा देने का अभियान चलाया और गांव को शहर से जोड़ने के लिए सड़क बनवाई। उनके प्रयासों से पंचायत, ग्राम सभा

वाजिब वेतन दिलाने के आंदोलन का सफल नेतृत्व किया। यहीं से उनका आंदोलनकारी चरित्र उभरा। वे महिला सशक्तीकरण अभियान की साथिन बन गईं और आस-पास के इलाकों में घूम-घूम कर महिलाओं को जागृत करके उनमें आत्मविश्वास पैदा करने के प्रयासों में जुट गईं। वे प्रौढ़ शिक्षा में भर्ती हुई और बाद में कंप्यूटर चलाना भी सीख गईं। उन्होंने उन महिलाओं को भी साक्षर बनाने तथा कंप्यूटर सिखाने के प्रयास किए जो उनकी तरह अनपढ़ और निर्धन थीं। उनके द्वारा किए गए सामाजिक कार्यों तथा आगे बढ़ने वे दूसरी महिलाओं को सक्षम बनाने के उनके प्रयासों को ध्यान में रखते हुए हरमदा गांव के लोगों ने उन्हें पंच चुना। पिछले चार साल से वह नौरोती सरपंच के रूप में काम कर रही हैं।

सरपंच की ज़िम्मेदारी संभालते ही उन्होंने हरमदा तथा आस-पास के गांवों में चल रहे दारु माफिया का सफाया किया। इसके बाद उन्होंने गांव की कब्रागाह पर गैर-कानूनी कब्जे को हटाया। इसके अलावा नरेगा कार्यक्रम में हेराफेरी करने वालों के खिलाफ़ कार्रवाई की और उन्हें जेल भिजवा कर दम लिया। अपनी ईमानदारी, कर्मठता और निःदरता के कारण वे गांव के विकास से जुड़ी परियोजनाओं को समय पर स्वीकृत करा लेती हैं, लेकिन इतना कर लेने पर भी वे संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि उन्हें उन योजनाओं को पूरा करने की चिंता सताती रहती है, जो अभी अधूरी हैं।

राजस्थान के ही बीकानेर ज़िले की एक दलित सरपंच तारादेवी भी अपनी नेतृत्व तथा प्रशासनिक क्षमता के कारण चर्चा में है। तारादेवी के बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि वे हैं तो दलित लेकिन अनारक्षित सीट पर नोसेरा गांव की सरपंच चुनी गई। सरपंच के रूप में शिशु कन्याओं की सुरक्षा की दिशा में किए गए कामों ने उन्हें विशेष ख्याति दिलाई। नोसेरा गांव में किए गए सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया है कि अस्पताल या डिस्पेंसरी आदि की बजाय घर में प्रसव अधिक होने के कारण लड़कियां मर जाती हैं या मार दी जाती हैं। तारादेवी ने अन्य संगठनों, विशेषकर महिला संगठनों की मदद से अस्पतालों में प्रसव को बढ़ावा देने का अभियान चलाया और गांव को शहर से जोड़ने के लिए सड़क बनवाई। उनके प्रयासों से पंचायत, ग्राम सभा

तथा ब्लॉक स्तर पर योजनाएं तैयार करते हुए महिलाओं की समस्याओं तथा आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। तारादेवी के प्रयासों का ही प्रताप है कि समेरधन-नोसेरा इलाके में लड़कियों का अनुपात 982 पुरुषों की तुलना में 1,014 हो गया है। उन्होंने आंगनबाड़ी के काम-काज में भी सुधार किया और अब आंगनबाड़ी गांव के बच्चों और महिलाओं की देखभाल व कल्याण का मुख्य केंद्र बन गई है। वे हर जगह यही बात कहती हैं कि हमें उपेक्षित वर्गों की महिलाओं की क्षमताओं पर भरोसा करना चाहिए और उन्हें आगे बढ़ने का अवसर तथा सहयोग उपलब्ध कराना चाहिए।

बिहार के गया ज़िले के बापूग्राम की ज्योति माझी की मिसाल भी अन्य महिलाओं के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकती है। ज्योति माझी न केवल अपने ज़िले बल्कि आस-पास के ज़िलों में भी धान की खेती की नयी पद्धति विकसित करके नाम कमा रही है। ‘श्रीविधि’ नाम की इस पद्धति को किसानों तक पहुंचाने के लिए ज्योति माझी अपने पति बालेश्वर के साथ गांव-गांव घूमती हैं और दलितों व किसानों को श्रीविधि की व्यावहारिक जानकारी देती हैं। धान की उपज दोगुना करने वाली इस पद्धति को हर किसान तक पहुंचाने के साथ-साथ ज्योति माझी महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के प्रयासों में भी जुटी रहती हैं। उन्होंने ‘प्रखंड ग्राम स्वराज सभा’ का गठन किया है जिसके माध्यम से महिलाओं के 350 स्वयं सहायता समूह बनाए

गए हैं जिनमें 6 पंचायतों के 40 गांवों की लगभग 1,000 महिलाएं छोटे-मोटे व्यवसाय चलाकर अपनी आमदनी बढ़ाने में सफल हुई हैं। महिलाओं में आर्थिक स्वावलंबन और जागृति आने से गांवों में साफ-सफाई और स्वास्थ्य के स्तर में भी सुधार दिखाई देने लगा है। पर्यावरण संरक्षण के लिए उन्होंने अपने इलाके में 10 हजार पौधे रोपने का विशाल कार्य संपन्न किया है। ज्योति माझी के प्रयासों से खेती के लिए जल संरक्षण के उद्देश्य से गांव के पास बांध बनाया गया है जिसे ‘श्रीविधि बांध’ के नाम से जाना जाता है। उन्होंने गांव के दलित बच्चों और महिलाओं की देखभाल के लिए आंगनबाड़ी भी खुलवाई है। ज्योति माझी अपनी लोकप्रियता के बल पर अब बिहार विधानसभा की सदस्य चुनी गई हैं। यहीं नहीं, कृषि के क्षेत्र में उनके प्रयोगों तथा प्रयासों को मान्यता देते हुए उन्हें राजेंद्र कृषि विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त किया गया है और वे अब कृषि के छात्रों को खेती की नयी विधियों का प्रशिक्षण दे रही हैं।

अंत में हम आपको झारखंड के गिरिधीह ज़िले की सामाजिक कार्यकर्ता किरण वर्मा की कहानी बता रहे हैं जिन्होंने सामान्य काम-काज करते-करते समाज सेवा का रस्ता अपना लिया और अब अपने गांव सियासांड में रहते हुए आस-पास के गांवों की महिलाओं का जीवन खुशहाल बनाने का काम कर रही हैं। किरण वर्मा की केवल 13 साल की उम्र में शादी हो गई और जल्दी ही वे तीन बच्चों की माँ बन गई। घर का ख़र्चा चलाने के लिए किरण ने

गांव के लोगों के कपड़ों की सिलाई का काम शुरू किया। शुरू में समाज ने यह कहते हुए उनका विरोध किया कि टेलरिंग का कार्य मर्दों का है और तांत्रिकों का नहीं। लेकिन किरण अपने निश्चय पर डटी रहीं और धीरे-धीरे विरोध के स्वर दबते गए। कपड़े सिलाने के लिए आनी वाली महिलाएं उन्हें जब बतातीं कि घर में उन पर किस तरह अत्याचार हो रहे हैं तो किरण वर्मा का मन महिलाओं की मदद के लिए मचलने लगा। यहीं से किरण वर्मा में छिपा सामाजिक कार्यकर्ता जागृत हुआ। किरण अपने गांव सियासांड में लड़कियों को टेलरिंग सिखाने के अलावा और भी कई परियोजनाएं चलाती हैं। वे बच्चों की सहायता करने वाले स्वयं सेवी संगठन ‘क्राई’ के लिए भी काम करती हैं। वे गांव की महिलाओं को लेकर स्वयं सहायता समूह भी चला रही हैं जिनकी मदद से महिलाएं तरह-तरह के कुटीर उद्योग खोल कर आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त कर रही हैं। किरण का कहना है कि पिछले 12-13 वर्षों में ज़िले की क़रीब 400 लड़कियों या महिलाओं को उनके प्रयासों से लाभ पहुंचा है।

ये सभी तथा इसी तरह गांवों में चेतना की अलख जगाने वाली अनेक महिलाएं यह विश्वास दिलाती हैं कि कई तरह के सामाजिक और सांस्कृतिक बंधनों और वर्जनाओं के बावजूद महिलाएं न केवल स्वयं ही निरंतर प्रगति ही सीढ़िया नहीं चढ़ रहीं हैं बल्कि दूसरी औरतों को भी दिशा दे रही हैं। □
(लेखक आकाशवाणी के समाचार निवेशक रह चुके हैं।

ई-मेल : setia_subhash@yahoo.co.in)

(पृष्ठ 62 का शेषांश)

अब आम चुनावों में विशेष प्रकार के व्यवहार को रोकने तथा उन्हें स्वच्छ बनाने का समय आ गया है। उसके बाद से आचार संहिता में लगातार नयी चीजें जोड़ी जाती रही हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण था आचार संहिता के लागू होने की तिथि से किसी नयी सरकारी योजना या शिलान्यास-उद्घाटन आदि कार्यक्रमों पर पूरी तरह से रोक। जन प्रतिनिधित्व कानून 1951 में परिवर्तन करके दो साल से अधिक सजा प्राप्त करने वाले लोगों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध ने भी अपराधीकरण की समस्या को एक सीमा तक हल किया है लेकिन अभी भी संसद और विधानसभाओं में ऐसे कई लोग

मौजूद हैं जिन पर गंभीर अपराधों के मामले चल रहे हैं। प्रायः अदालतें इन मामलों में सजा सुनाने में देर करती हैं और अपराधी वर्ग इस बीच राजनीति में निरंतर हस्तक्षेप बनाए रखते हैं। भारत में चुनावों को अपराधीकरण, धनबल-बाहुबल, मीडिया संबंधी दुरुपयोग, जाति-धर्म से मुक्त करने की आवश्यकता है। इस बात की भी जरूरत है कि कोई राजनीतिक समूह क्षेत्रीय अस्मिता या धार्मिक सांप्रदायिकता के नाम पर सत्ता प्राप्त करने का प्रयास न करे। चुनावों के निकट आने पर कुछ राजनीतिक दल धार्मिक आस्था से जुड़े मुद्दों को उछालने लगते हैं क्योंकि उन्हें पता होता

है कि आम जनता आसानी से इन मुद्दों के कारण भटकाई जा सकती है। चुनाव संबंधी नियमों में इस बारे में स्पष्ट निर्देश होने के बावजूद व्यवहार में उन निर्देशों को लागू नहीं किया जाता। अतः अधिक से अधिक गंभीरता से लोगों को इस बात के लिए जागरूक करना चाहिए कि राजनीति के लोकतंत्रीकरण का प्रश्न धर्मनिरपेक्षता से स्पष्ट तौर पर जुड़ा हुआ है। □

(लेखक दिल्ली के दयाल सिंह कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

ई-मेल : vaibhavjnu@gmail.com)

प्रधानमंत्री की जापान यात्रा

दोनों देशों के संबंधों में आई एक नयी ऊष्मा

● सुरेश अवस्थी

मई 2013 का अंतिम सप्ताह विदेश नीति के संदर्भ में भारत के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण कहा जाएगा। प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह इन दिनों काफी व्यस्त रहे। चीन के नये प्रधानमंत्री ली ख़लियांग की मेजबानी करने के अलावा अफगानिस्तान के राष्ट्रपति हामिद करजई के साथ भी नयी दिल्ली में द्विपक्षीय और आपसी हितों के अन्य विषयों पर चर्चा हुई। इसके तुरंत बाद प्रधानमंत्री जापान और थाईलैंड की महत्वपूर्ण यात्रा पर गए।

चीन के प्रधानमंत्री की भारत यात्रा के तुरंत बाद डॉ. मनमोहन सिंह की जापान यात्रा का विशेष महत्व इसलिए है कि दोनों देशों का चीन के साथ सीमा अथवा क्षेत्र को लेकर लंबे असरे से विवाद बना हुआ है। बावजूद इसके चीन और भारत के रिश्ते मित्रतापूर्ण हैं। दोनों देशों के आर्थिक संबंध दिन-प्रतिदिन सुदृढ़ता की ओर बढ़ रहे हैं। यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मई के दूसरे सप्ताह में यदि चीनी सैनिकों के लद्दाख के दौलत बेग ओल्डी क्षेत्र में घुसपैठ का विवाद नहीं उत्पन्न हुआ होता तो चीन के नये प्रधानमंत्री की भारत यात्रा ऐतिहासिक हो सकती थी। चीन ने भारत के साथ व्यापार असंतुलन को दूर करने की पेशकश करके द्विपक्षीय संबंधों को और दृढ़ता प्रदान करने की चेष्टा की है।

परंतु चीन और जापान के संबंध बहुत अधिक मैत्रीपूर्ण नहीं हैं। चीन को जापान के आधिपत्य से मुक्त हुए एक सदी से भी अधिक समय हो गया है, परंतु जापान चीन के लिए अभी शत्रु देश है। फिलहाल दक्षिण चीन सागर में कुछ द्वीपों को लेकर दोनों

देशों में तनातनी बनी हुई है। चीन ने इसीलिए डॉ. मनमोहन सिंह की जापान यात्रा के पूर्व भारत को उससे सावधान रहने की सलाह दी थी। चीनी मीडिया का कहना था कि जापान भारत और चीन के बीच अच्छे रिश्तों के प्रति ईर्ष्यालू हैं और इसीलिए वह दोनों के बीच संदेह का बीज बोने की कोशिश करेगा। भारत और जापान के बीच संबंधों के सिलसिले में चीन की इस बात का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि भारत और जापान के संबंधों का एक प्रमुख तत्व एशिया प्रशांत क्षेत्र में चीन के बढ़ते सामरिक और आर्थिक वर्चस्व का मुक़ाबला करना भी है।

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की जापान यात्रा 28 से 30 मई आर्थिक, रणनीतिक और भू-राजनीतिक सभी स्तरों पर दोनों देशों की मित्रता को मज़बूत करने के लिए महत्वपूर्ण है। आर्थिक क्षेत्र में दोनों देशों को एक-दूसरे की आवश्यकता है। भारत को जापान से आर्थिक निवेश और तकनीकी सहयोग की आवश्यकता है तो जापान को भारतीय बाज़ार में अपने लिए अधिक पैठ की ज़रूरत है। जापान के प्रधानमंत्री शिंजो एबे के साथ बातचीत में दोनों देशों के बीच व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (सीटीबीटी) को लेकर लंबे समय से चला आ रहा गतिरोध तो नहीं सुलझ पाया, परंतु जापान ने भारत को परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह (एनएसजी) की सदस्यता दिलाने का प्रयास करने का आश्वासन अवश्य दिया है। साथ ही दोनों देशों के बीच असैन्य परमाणु सहयोग समझौते को अंजाम तक पहुंचाने का भी भरोसा दिलाया है।

डॉ. मनमोहन सिंह और शिंजो एबे के बीच हुई लंबी चर्चा के बाद जारी संयुक्त वक्तव्य में बताया गया कि जापान भारत को एनएसजी की पूर्ण सदस्यता दिलाने के लिए उसके साथ मिलकर काम करने को तैयार है। परमाणु हमले का विश्व में इकलौता शिकार जापान परमाणु अप्रसार संधि को लेकर काफी संवेदनशील है। यद्यपि भारत ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, तथापि परमाणु अप्रसार के बारे में वह सदा से गंभीर और प्रतिबद्ध रहा है। इस संदर्भ में उसके साथ-सुधरे रिकॉर्ड को रूस, अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन सहित अनेक देशों ने स्वीकारा है। डॉ. मनमोहन सिंह ने श्री एबे को विश्वास दिलाया कि भारत स्वतः परमाणु परीक्षण स्थगन के लिए प्रतिबद्ध है। परमाणु सुरक्षा को अहमियत देते हुए दोनों देशों ने परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग में सहयोग पर समझौते की चर्चा में तेज़ी लाने का संकल्प व्यक्त करते हुए अपने-अपने देशों के संबद्ध अधिकारियों को निर्देश भी दिए। जापानी प्रधानमंत्री के सलाहकार रणनीति के सदस्य तोनोहिका तानीगुची का विचार है कि यह समझौता दो साल से भी कम समय में संपन्न हो सकता है। श्री तानीगुची ने कहा कि श्री एबे परमाणु अप्रसार के संदर्भ में भारत के साफ-सुधरे रिकॉर्ड का सम्मान करते हैं और उसे अंतर्राष्ट्रीय निर्यात नियंत्रण व्यवस्था (आईईसीआर) का सदस्य बनाने के लिए ज़मीन तैयार की जा रही है। फ्रांस और ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों द्वारा यूरेनियम के निर्यात पर भारत पर लगे प्रतिबंध को हटा लेने के बाद जापान को भारत के साथ परमाणु

विकास यात्रा

किशोरों के लिए रक्ताल्पता-निरोध कार्यक्रम

किशोरों के लिए राष्ट्रीय आयरन एवं फोलिक एसिड पूरक कार्यक्रम 17 जुलाई, 2013 को शुरू किया गया है। 10-19 वर्ष के किशोरों में आयरन की कमी के कारण होने वाले रक्ताल्पता को रोकने के लिए यह अपने आप में एक अनूठा कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम से देश के 13 करोड़ किशोरों को लाभ होगा। आयरन की कमी के कारण होने वाली रक्ताल्पता की बीमारी देश में आज एक बड़ी समस्या है। करीब 58 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं, जननीय उम्र की 50 प्रतिशत महिलाएं, 56 प्रतिशत किशोरियां, 30 प्रतिशत किशोरवय लड़के और 5 साल से कम उम्र के 70 प्रतिशत बच्चे रक्ताल्पता के शिकार हैं। इसके कारण उनका शारीरिक विकास प्रभावित होता है। ऐसे में बच्चों की एकाग्रता पर भी असर पड़ता है और बच्चों का स्कूल में प्रदर्शन बेहतर नहीं हो पाता।

योजना की विशेषताएं

- ◆ 13 करोड़ किशोर लड़के एवं लड़कियां योजना के दायरे में शामिल होंगे।
- ◆ इसके तहत सरकारी एवं सहायता प्राप्त स्कूलों और आंगनबाड़ी केंद्रों पर निशुल्क आईएफए टेबलेट मुहैया कराई जाएंगी।
- ◆ आईएफए टेबलेट के उपयोग के बारे में सप्ताह में एक दिन निरीक्षण होगा।
- ◆ किशोरों में रक्ताल्पता की जांच की जाएगी और स्वास्थ्य सेवाओं के लिए रेफर किया जाएगा।
- ◆ वर्ष में दो बार पेट के कीड़ों की सफाई होगी।
- ◆ आयरन युक्त भोजन एवं संतुलित आहार के बारे में सूचना एवं सलाह।
- ◆ पोषण एवं स्वास्थ्य आधारित शिक्षा।

रजि.सं.डीएल (एस)-05/3231/2012-14

Reg. No. D.L.(S)-05/3231/2012-14 at RMS, Delhi

22 जुलाई, 2013 को प्रकाशित • 29-30 जुलाई, 2013 को डाक द्वारा जारी



प्रतियोगिता परीक्षाओं में एक सम्पूर्ण वार्षिक संदर्भ ग्रन्थ के साथ

कोड
862

मूल्य : ₹ 335.00



(नवीन आँकड़ों एवं तथ्यों सहित)

English Edition Code No. 800 • ₹ 340.00

समसामयिक घटनाओं
का विवरण,
खेल समाचार,
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी,
उद्योग व्यापार,
विशिष्ट व्यक्तियों,
पुरस्कारों एवं अन्य
महत्वपूर्ण विषयों पर
उपयोगी सामग्री

निःशुल्क पुस्तिका
सार संग्रह

**प्रतियोगिता दर्पण**To purchase online log on to www.pdgroup.in

2/11ए, स्वदेशी बीमा नगर, आगरा-282 002 फोन : 4053333, 2530966, 2531101, फैक्स : (0562) 4053330

• E-mail : care@pdgroup.in • Website : www.pdgroup.in

ब्रॉच आफिस : • नई दिल्ली फोन : (011) 23251844/66 • हैदराबाद फोन : (040) 66753330 • पटना फोन : (0612) 2673340